धर्म्मशिक्षाग्रन्थावली संख्या ८

श्रीविश्वनाथो जयति ।

धर्म्मप्रचारसोपान ।

धर्म्मशिक्षाविषयक पुस्तक ।

मुख्यतः धर्म्मोपदेशकों और साधारणतः
समग्र धर्म्मचर्चा करनेवाले
धर्म्मानुरागियोंके हितार्थ
श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल
के
शास्त्रप्रकाशविभागद्वारा
प्रकाशित ।

काशीधाम ।

श्रीमहामण्डलशास्त्रप्रकाशकसमितियन्त्रालयमें मुद्रित ।

कलेर्गताब्दाः ५०१२

मूल्य ≋) तीन आना ।

विषयसूची ।

विज्ञापन ।

हिन्दूजातिकी अद्वितीय विराट् धर्म्मसभा श्रीभारतधर्म्म-महामण्डलने सनातनधर्म्मावलम्बीय बालक और बालिका तथा धर्म्मशिक्षार्थियोंकी यथावत् धर्म्मशिक्षाके लिये अनेक छोटे और बड़े ग्रन्थ संगृहीत और रचित कराये हैं। वे सब ग्रन्थ संस्कृत, हिन्दी, बङ्गला आदि अनेक भाषाओंमें क्रमशः प्रकाशित हो रहे हैं। प्रथम अवस्थामें धर्म्मशिक्षाके उपयोगी सदाचारसोपान, कन्याशिक्षासोपान, ब्रह्मचर्य्याश्रम, धर्म्मसोपान, साधनसोपान, शास्त्रसोपान, राजशिक्षासोपान आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। स्वधर्म्मप्रचार करना प्रत्येक धर्म्मात्मा व्यक्तिका मुख्य कर्त्तव्य है इस कारण धर्म्मप्रचारके यथार्थ स्वरूपको विदित करानेके अर्थ और धर्म्मप्रचारकरनेकी रीतियोंको अवगत कराने के निमित्त यह धर्म्मप्रचारसोपान नामक पुस्तक प्रकाशित की-जाती है। सनातनधर्म्मावलम्बियोंमें धर्म्मप्रचारके लक्ष्यसे पर-स्पर वार्त्तालाप करनेकी रीति बिलकुल उठजानेसे लोग प्रायः धर्म्मज्ञानशून्य होते जाते हैं। ऋषिकालमें अनेक छोटे बड़े यज्ञ और महायज्ञोंमें नियमित रूपसे धर्म्मचर्चा हुआ करती थी यही कारण है कि उस समयके प्रायः सभी लोग अपने अपने अधिकारानुसार धर्म्मके स्वरूपका ज्ञान रखते थे अतः उनमें साम्प्रदायिक विरोधका अभाव और आत्मोन्नतिका लक्ष्य प्रति-क्षण बना रहता था, अब वे यज्ञ यजनादि नहीं हैं प्रत्युत कालके

प्रभावसे मनुष्योंकी प्रवृत्ति भी धर्म्मचर्चाकी ओरसे कम होती जाती हैं, यदि इस पुस्तकके द्वारा धर्म्मप्रचारके लक्ष्यसे धर्म्म-चर्चा करनेकी ओर सनातनधर्म्मावलम्बी पिता और शिक्षक अपने बालक और शिष्यवर्गोंको प्रवृत्त करेंगे तो ग्रन्थकर्ताका परि-श्रम सफल होगा और सनातनधर्म्मके यथार्थ स्वरूपका अधिक प्रचार बढ़ेगा। धर्म्मप्रचारकोंके धर्म्मोपदेश कार्य्यमें तो यह ग्रन्थ अधिक सहायता दे सकेगा अतः वे लोग भी अवश्य इस से लाभवान् होकर ग्रन्थकर्ताके इस प्रयत्नको सफल करेंगे ऐसी आशाकी जाती है।

पूज्यपाद ग्रन्थकर्ताके निर्मित अन्यान्य ग्रन्थोंके अनुरूप उनके दानपत्रके नियमानुसार उनकी आज्ञासे इस ग्रन्थका स्वत्वाधिकार श्रीविश्वनाथ "अन्नपूर्णादानभण्डार" में अनाथ विधवा दीनदुःखी आदिकी सेवार्थ श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके द्वारा अर्पण किया जाता है। यह विज्ञापन पूज्यपाद प्रभुकी आज्ञासे लिखा गया है।

आश्विनशुक्ला विजया दशमी
सम्वत् १९८८ वैक्रमीय

निवेदक
विवेकानन्द।

विविधविषयोंके धर्म्मग्रन्थ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलद्वारा तथा अन्य धार्म्मिकोंके द्वारा रचित अनेक विषयोंके अनेक धर्मग्रन्थ श्रीनिगमागमपुस्तकभाण्डार (बुकडिपो) में प्रस्तुत रहते हैं उनमेंसे कुछ नीचे समूल्य लिखे जा हैं धार्म्मिक सज्जन इनको मंगाकर लाभ उठासक्ते हैं।

नवीनदृष्टिमें प्रवीणभारत (नवशिक्षितोंको भारतका महत्व ज्ञात करानेके अर्थ) ... ... मूल्य १) एक रुपया

योगदर्शन (महर्षिपतञ्जलिप्रणीत सूत्र अपूर्व भाषाभाष्य और अद्भुत भूमिका सहित)... ... ... मूल्य २) दो रुपये

भक्तिदर्शन (महर्षि शाण्डिल्यप्रणीत सूत्र अपूर्व भाषाभाष्य और अद्भुत भूमिका सहित)... ... ... मूल्य १) एक रुपया

गीतावली (इसमें संगीत शास्त्र विषयक अपूर्व भूमिका और प्रत्येक राग रागिनियोंके गीत संग्रहीत और रचित हैं) मूल्य ॥) आठआना

उपदेशावली (धर्म्मोपदेशकोंके हितार्थ) मूल्य =) दो आना

गुरुगीता (भाषानुवादसहित इसमें श्रीगुरुदेवका स्वरूप और माहात्म्य वर्णन है) ... ... मूल्य ।) चार आना

कल्किपुराण (भाषानुवाद सहित) ... मूल्य १) एक रुपया

धर्म्मसङ्गीत (धर्म्मसभाओंके उत्सवोंमें गाने योग्य हिन्दी व संस्कृतके धर्म्मसम्बन्धीय गीतोंका संग्रह) ... ... मूल्य ≡) तीन आना

शम्भुगीता (पदअन्वय भाषानुवाद और तात्पर्य सहित) मूल्य ।) चार आना

मूर्तिपूजा (मूर्तिपूजानिन्दकोंके लिये मुखचपेटिका) मूल्य ।=)छः आना

शास्त्रीजीके दो व्याख्यान (महामहोपाध्याय रामभिश्रशास्त्रीजीके वेदविषयक व्याख्यानोंका सार) ... ... मूल्य ॥=) दस आना

ॐ तत्सत् ।

धर्म्मप्रचारसोपान ।

मंगलाचरण ।

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः ।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥

प्रथम अध्याय ।

धर्मप्रचार ।

आजदिन इस विस्तृत पृथ्वी पर बौद्धधर्म जैनधर्म ईसाईधर्म मुसल्मानधर्म यहूदीधर्म पारसी धर्म आदि नाना धर्मोंके प्रचारके साथ नाना धर्म-नाम सुनाई देते हैं। परन्तु अपने वैदिक धर्मका केवल "धर्म" नामसे और अधिक कोई नाम नहीं है। यदिच अब वर्तमान कालके प्रभावसे इसके हिन्दू-धर्म, सनातनधर्म, आर्यधर्म और वैदिकधर्म आदि नाना नूतन कल्पित नाम सुनाई देते हैं परन्तु अपने धर्मके प्रधान आश्रय वेद, वेद-सम्मत उपवेद, दर्शन, स्मृति, पुराण, इतिहास और तन्त्र आदि किसीमें कहीं भी "धर्म" के सिवाय और कोई स्वतन्त्र नाम नहीं दिखाई देता

है। सर्वव्यापक ईश्वरकी नाईं सार्वभौमदृष्टि, उदारता और शान्तिगुणसेयुक्त इस धर्मके लिये केवल "धर्म" शब्द ही उपयोगी है। पृथ्वी पर और जितने धर्म प्रचलित हैं, उन धर्मोंके प्रवर्तक महाशयोंने अपने २ धर्म-मार्गको थोड़ेसे नियमोंके अधीन कर दिया है, और यहभी स्थिर कर गये हैं कि उनके उन २ धर्ममार्गोंके सिवाय पृथ्वी पर जीवों के उद्धारार्थ और कोई पथ ही नहीं है! यदि जीवोंकी मुक्ति होगी तो उन्हींके नियमित धर्म द्वारा होगी!! जब इन नवीन धर्माचार्योंने अपने २ धर्म-मार्गको विशेष २ नियमोंके अधीन कर दिया है तो उस विशेषताके प्रतिपादनार्थ विशेष २ नामकरणभी अवश्य होना उचित है। परन्तु अपने सनातनधर्मका रूप इसभांत सङ्कुचित अथवा उसकी दृष्टि इस प्रकार एकदेशदर्शिनी नहीं है। पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने जब धर्मनिर्णय किया है तो "धर्म" शब्दका यही अर्थ किया है कि इस सृष्टिक्रियाको जिस ईश्वरीय नियमने धारण कर रक्खा है उसीको "धर्म" कहते हैं * ।

---

* या बिभर्ति जगत्सर्वमीश्वरेच्छा ह्यलौकिकी ।
सैव धर्मोहि सुभगे! नेह कश्चन संशयः ॥

अर्थात् सृष्टि, स्थिति और लयरूप इस संसारका जो सर्वव्यापक नियम है कि तृणसे लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त जो कुछ पदार्थ इस ब्रह्माण्डमें हैं वे सबही प्रथममें उत्पत्ति, मध्यमें स्थिति और अन्तमें लयके अधीनहैं और इसी सृष्टि, स्थिति और लयके क्रमको जिस नियमने धारण कर रक्खा है उसीको धर्म कहते हैं। विचारनेसे यही सिद्ध होगा कि जीव भी इस नियमसे बाहर नहीं हैं, अर्थात् जीव की उत्पत्ति स्थिति और लय वा मोक्ष त्रिगुण भेदसे समझे जा सक्ते हैं। "धर्म" का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ "धारणकर्ता" और निरुक्तगत अर्थ "धारण करनेयोग्यनियम" होनेके कारण "धर्म" शब्दसे "धारण करने योग्य नियम" यही भावार्थ निकलता है और वही धर्म शब्दका भावार्थ जीव-क्रमोन्नतिके सिद्धान्त पर लगानेसे जीवश्रेष्ठ मनुष्यके यावन्मात्र कर्म उस धर्मशब्द-वाच्य अधिकारके अधीन समझे जा सक्ते हैं। जिस

धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्त स धर्म्म इति निश्चयः॥
इति श्रीभगवान् वेदव्यासः ।

येनैतद्धार्य्यते स धर्म्मः।
इति भक्तिदर्शने ।

प्रकार सृष्टिके यावन्मात्र पदार्थ धर्मके अधीन हैं उसी प्रकार मनुष्य भी धर्माधीन हैं इसमें सन्देह नहीं है ।

इस ब्रह्माण्डमें दो प्रकारकी क्रियाएँ देखनेमें आती हैं, यथा एक जड़ क्रिया और दूसरी चेतन-क्रिया। अर्थात् इन दोनों क्रियाओंके अतिरिक्त और कोई तीसरी क्रिया इस संसार में दृष्टिगोचर नहीं होती। चेतनक्रिया विद्या अर्थात् ईश्वरका राज्य और जड़क्रिया अविद्या अर्थात् ईश्वर-विमुख अधिकार है। जड़राज्यका सम्पूर्ण अधिकार प्रस्तर आदि स्थावर पदार्थोंसे लेकर मनुष्यके अतिरिक्त सब जीवोंतक है, क्योंकि मनुष्यके सिवाय और सब जीव प्रकृतिके अधीन होकर चलते हैं। यहां तक कि उन सबके अन्तःकरण पर जड़भाव-रूपी उनकी प्रकृतिका पूर्णरूपसे आधिपत्य रहा करता है, इसी कारण अन्य निकृष्ट जीव अपनी प्रकृतिके प्रतिकूल बुद्धि द्वारा कोई नूतन कार्य नहीं कर सक्ते। परन्तु मनुष्ययोनिका अधिकार चेतनराज्य तक पहुंच जाता है; उन्नत मनुष्य ही केवल चेतनराज्यमें भ्रमण करनेके योग्य हैं। इसी कारण मनुष्य अपनी बुद्धि पर आधिपत्य

स्थापन कर सक्ता है और बुद्धिकी सहायतासे यथाशक्ति नूतन कार्य करनेमें समर्थ होसक्ता है। परन्तु जिस प्रकार इस उन्नत अधिकारकी प्राप्तिसे मनुष्य उन्नततर होसक्ता है उसी प्रकार अवनत भी होसक्ता है। मनुष्यमें उन्नत ज्ञान रहनेहीके कारण चाहे तो वह अपने पुरुषार्थ द्वारा उन्नतिको प्राप्त करके ईश्वरसाक्षात्कार कर मुक्त होसक्ता है और चाहे तो अवनति प्राप्त करता हुआ पुनः जड़ राज्यमें उतर जा सक्ता है। मनुष्यको चेतन राज्यका अधिकार दिया गया है; इस कारण इसके दायित्वभी इतने रक्खे गये हैं। चौरासी लक्ष योनियोंमें एक मात्र मनुष्यके सिवाय और सब जीवोंमें तमका अंश अधिक होनेके कारण वे धर्म-विचारके अधिकारी नहीं हैं; उन सब योनियोंमें सृष्टिक्रियाके इस अविरोधी नियमके अधीन होकर जीव क्रमशः उन्नत योनियोंको प्राप्त करता हुआ अन्तमें इस मनुष्ययोनिमें आकर धर्म-विचारका अधिकारी बन जाता है और इसी योनिमें आकर जीव लय अर्थात् मुक्ति पदके निकट पहुंच जाता है। जैसे मनुष्य जब किसी प्रबल तरङ्गिणी नदीमें डूब जाता है तब एक बार तो वह स्रोतस्वती सरिता उस मनुष्यको अपने जलके ऊपर कर ही देती है,

उस समय यदि वह मनुष्य कुछ पुरुषार्थ कर तरङ्गों को अधीन कर नदीतट तक पहुंच जाता है तो इस विपत्तिसागरसे बच ही जाता है और यदि वह बुद्धिहीन हो घबड़ा जाय तो पुनः डूबने पर उसका बचना कठिन हो जाता है। वैसेही जीवों पर कृपावश हो प्रकृति माता जीवको एक बार मनुष्य योनि तक पहुंचा कर धर्मका अधिकारी तो करही देती है; अब पुरुषार्थ कर धर्मके अधीन होकर मुक्त होना मनुष्यके हाथ है। इस विचारसे शास्त्र-कर्ताओंने सिद्ध किया है कि जिन कर्मोंके साधन द्वारा मनुष्य बेखटके उन्नत होते हुए मुक्त होजाय उन्हीं कर्मोंका नाम धर्म और जिन कर्मोंके द्वारा मनुष्य बीचमें अटक जाय अथवा बन्धनकी अधिकता प्राप्त कर नीचेको उतर जाय उन्हीं कर्मोंका नाम अधर्म है *। सत्त्वगुणकी वृद्धि द्वारा मनुष्यका मुक्ति मार्ग क्रमशः सरल होजाता है, इस कारण सत्व-गुण वर्द्धक कर्म ही धर्म, और तमोगुणद्वारा मनुष्य अधिक बन्धन प्राप्त करता है इस कारण तमोगुण

---

* प्राप्नुवन्ति यतः स्वर्गमोक्षौ धर्म्मपरायणे ।।
मानवा मुनिभिर्नूनं स धर्म्म इति कथ्यते ॥

वर्द्धक कर्म ही अधर्म हैं *। अपने शास्त्रोंके विचारसे मनुष्य जितने कर्म किया करते हैं वे सबही धर्म और अधर्मके अन्तर्गत हैं, इसी कारण आर्यधर्म-शास्त्रोंमें मनुष्योंके खाने, पीने, सोने, जागने, उठने, वैठने, चलने, फिरने, देखने, सुनने आदि सब कर्मोंके साथ धर्माधर्मका सम्बन्ध सिद्ध किया गया है। पृथ्वीके और सब धर्मावलम्बियोंने अपने २ धर्मको थोड़ेसे नियमोंके अधीन कर रक्खा है अर्थात् उस धर्मकी स्थिर की हुई नियमावलीसे ही उनका धर्म निर्णीत होताहै और उन नियमोंके अतिरिक्त और सब उत्तम बातोंसे उनके धर्मका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; परन्तु अपने वैदिक धर्म में वैसा नहीं है; क्योंकि अपने धर्मविज्ञानके अनुसार पृथ्वीके यावन्मात्र पदार्थ एवं जीवोंके यावन्मात्र कर्म कोई भी धर्माधर्मसे अतीत नहीं हो सक्ते। अस्तु मनुष्यके ऐहलौकिक अभ्युदय, ऐश्वर्य और सुखादिकोंकी उन्नति और पारलौकिक स्वर्गादिकी प्राप्ति सभी धर्मसाधनके अन्तर्गत है। वस्तुतः

---

* सत्ववृद्धिकरो योऽत्र पुरुषार्थोऽस्ति केवलः।
धर्म्मशीले ! तमेवाहुर्धर्म्मं केचिन्महर्षयः॥
इति श्रीभगवान् वेदव्यासः।

मोक्षपदप्राप्ति तो चरम लक्ष्य ही है * । इसी कारण अपने धर्मकी दृष्टि इतनी महान् और उदार है कि वह और धर्मोंकी निन्दा कर नहीं सक्ता। चाहे क्षुद्र बुद्धिसे कोईभी अन्य धर्मावलम्बी उसकी निन्दा करे परन्तु पिता जिस प्रकार बालकको गालियोंसे सन्तुष्ट ही होता है उसी प्रकार वैदिक-सनातनधर्म अन्यान्य धर्मावलम्बियोंकी कटु उक्तियों पर कुछ भी ध्यान न देकर सबकी भलाई ही करता रहता है । धर्म-निर्णय करते समय एवं धर्मशब्दका वैज्ञानिक अर्थ विचारते समय धार्मिकमात्रको ही धर्मकी इस मूलभित्ति पर स्थिर रहना उचित है । सभी धर्म-प्रचारक गण धर्मनिर्णय करते समय यदि इस वेदोक्त धर्मसिद्धान्तको न भूलें तो वे कदापि विचलित, क्लेशित अथवा अवनत नहीं होंगे किन्तु सदा उन्नतही होते हुए अपना और पृथिवीके सब धर्मावलम्बियोंका कल्याण साधन कर सकेंगे। जहां नाम है वहीं अहङ्कार है; जहां विशेष संज्ञा-रूप नाम है वहीं भावविशेषता है; जहां संज्ञा-

* यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः ॥
इति वैशेषिक दर्शने ।

भेद है वहीं छुटाई बड़ाई है; जहां नाम है वहीं सार्वभौमदृष्टिका अभाव है; इस कारण अपना आर्यसनातनधर्म केवल धर्मनामसेही अभिहित होने योग्य है। चाहे संज्ञा रखनेके अर्थ इस धर्ममार्गका सनातनधर्म, हिन्दूधर्म, वैदिकधर्म आदि कुछ ही नाम रख लिया जाय परन्तु इस सर्वव्यापक, समदर्शी, अनादि, अनन्त, महान् और सर्वजीवहितकारी अपौरुषेय धर्ममार्गका नाम केवल "धर्म" ही होसक्ता है, इस विचारमें सन्देह नहीं है।

शास्त्रोंमें लिखा है कि सत्ययुगमें धर्म चतुष्पाद होगा, त्रेतायुगमें धर्म त्रिपादही रह जायगा, पुनः द्वापरयुगमें धर्मकी न्यूनता होनेके कारण धर्म द्विपाद ही रहेगा और कलियुगमें काल-माहात्म्यके कारण धर्म इतना घट जायगा कि केवल उसका एकमात्र पाद रह जायगा। महाभारतके घोरयुद्धके पीछे अर्थात् प्रायः पांच सहस्र वर्ष हुए तबसे कलियुग प्रकट हुआ है। यह धर्मके एक पाद रहने का ही कारण है कि धर्मकी आदिभूमि भारत–भूमिमें इस पांच सहस्र वर्षके भीतर ही अनन्त धर्मविप्लव हो गये और हो रहे हैं; भारत–श्मशानकारी महाभारतका महायुद्ध, तदनन्तर नाना राज-

विप्लव, बौद्धविप्लव, यवनविप्लव आदि नाना सङ्कटोंसे मनुष्योंकी बुद्धिमें फेर पड़ गया है और उसहीके कारण भारतवर्षमें नाना मतमतान्तर प्रकट हुए और उन मतमतान्तरोंकी सहायतासे समस्त पृथिवीमें और भी नये नये धर्म-सम्प्रदाय प्रकट हो गये हैं। जब धर्मके चार पाद थे तब मनुष्य धर्मके यथार्थ रूप मुक्तिको ही प्रधानलक्ष्य कर धर्म-साधन करते रहे। शनैःशनैः धर्मके पाद घटते घटते जब एकही पाद रह गया, तब जीवोंकी बुद्धिकी मलिनताके कारण उन्होंने धर्मके आध्यात्मिक अर्थात् अन्तर्लक्ष्यको छोड़ बहिर्लक्ष्यमें फँस, अपने अपने सम्प्रदायकी वृद्धि करनेके अर्थही नाना धर्म-मतोंकी सृष्टि की। यह धर्मके एक पाद रहनेका ही कारण है कि जैसे उन्मादरोगग्रस्त मनुष्य अपनी बुद्धि नष्ट होनेसे औरोंको भी उन्मादरोगग्रस्त अर्थात् पागल समझ उन्हें देख २ हंसा करता है वैसे ही अपने अपने सम्प्रदायके पक्षपातीलोग अपने २ सम्प्रदायको ही धर्मरूप समझ औरोंको अधर्मका लांछन लगाकर उपेक्षा किया करते हैं। इस वर्तमान कलिकालमें धर्मकी न्यूनता बहुत ही होगई है और उसकी

भविष्यद्वाणीभी अपने शास्त्रोंमें बहुत मिलती है, जिसको देख देख कोई धार्मिक अति निराश हो ऐसा भी विचारने लगे हैं कि जब कालमाहात्म्य से धर्मका एक पाद रह गया है तो इस युगमें धर्म की पूर्णता हो ही नहीं सकेगी। सत्ययुगमें धर्मके चार पाद थे और कलियुगमें धर्मका एक ही पाद है इसका यह तात्पर्य नहीं है कि पूर्ण धर्मके अधिकारी सत्ययुगमें ही हो सक्तेथे, अब नहीं होसक्ते; किन्तु यह आशय है कि जैसे धर्म सत्ययुगमें पूर्णरूप से बर्तमान था वैसेही पूर्णरूपसे इस कलियुगमें भी वर्तमान है, धर्मके स्वरूपमें कुछभी भेद नहीं पड़ा, किन्तु सत्ययुगमें धर्मकी गम्भीरता थी, अब कलियुगमें उसकी न्यूनता बहुत ही देखने में आती है। जैसे एक कूपमें यदि पांच सहस्र घट जलकी गम्भीरता हो तो उसमें अनेक मनुष्य डूब सक्ते हैं, परन्तु वही पांच सहस्र घट जल यदि कूपसे निकाल कर एक बहुत विस्तृत स्थानमें फैला दिया जाय तो उसी पांच सहस्र घटजलमें एक चींटी भी नहीं डूब सक्ती, वैसे ही सत्ययुगमें जहां २ धर्म था वहां २ अपनी गम्भीरताके साथ ही था, परन्तु अब इस तमःपूर्ण कलियुगमें जहां तहां गम्भीरताका

नाश होनेके कारण सकल जीवोंका पूर्णरूपसे कल्याण होना कठिन है । कूपके जलमें गम्भीरता थी परन्तु विस्तार नहीं था और भूमिमें फैले उसी जलमें विस्तार बढ़नेसे गम्भीरताका नाश हो गया, किन्तु जलका परिमाण जितना कूपमें था उतनाही अब भी रहा, केवल गम्भीरता नष्ट होनेके कारण जलकी कार्यशक्तिमें फेर पड़ गया । जो धर्मकी धर्मत्व-शक्तिका विकाश सत्ययुगके मनुष्योंमें प्रायः हुआ करता था, वही धर्मकी धर्मत्वशक्ति अब भी है परन्तु उसका पूर्ण विकाश कहीं कहीं विरल ही देखनेमें आता है, किन्तु उस का बहुतही विस्तृतरूप जहां तहां प्रकट हो रहा है ।

जगत्का इतिहास पाठ करनेसे यही सिद्ध होता है कि जितने प्रकारके धर्मप्रचारकोंने धर्मका स्थापन, धर्मका संस्कार और धर्मका प्रचार किया है उन सबोंको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा ज्ञानी, साधक और पण्डित । "ज्ञानी" धर्मप्रचारक वे कहा सकते हैं जिन्होंने अपनी ज्ञानदृष्टि द्वारा धर्मके बहिःसाधनसे लेकर अन्तर्लक्ष्य तकको देख लिया हो और जिन्होंने सकल समयमें धर्मके सार्वभौमभावका ही प्रचार किया हो । श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र, भगवान् वेदव्यास

और पूज्यपाद आर्य महर्षियोंको इस प्रकारके सर्वदर्शी ज्ञानी-धर्मप्रचारक-श्रेणी-भुक्त कर सक्ते हैं। ज्ञानी धर्मप्रचारकोंमें इतनी विशेषता है कि उनमें ज्ञानका पूर्ण विकाश होनेके कारण उनके उपदेश सब सम्प्रदाय और सब धर्ममार्गोंके हितकारी हैं और उनके पालन करनेसे सकल प्रकारके अधिकारीगण ही अपने २ अधिकारके अनुसार कल्याण प्राप्त कर सक्ते हैं। दूसरे प्रकारके "साधक" धर्मप्रचारक वे कहाते हैं कि जो साधन द्वारा भगवान्के अनन्त भावराज्योंमेंसे किसी किसी भावराज्यमें विचरण करते हुए अपने अपने अनुभव किये हुए भावोंके उपदेश द्वारा धर्म-राज्यके एक २ अंशका उद्धार कर गये हों। वैष्णव, शैव और शाक्त आदि सम्प्रदायोंके आधुनिक आचार्यगण इस साधकश्रेणी-भुक्त धर्मप्रचारक हैं। इन महापुरुषोंके द्वारा समय समय पर धर्मके विशेष विशेष अंशोंका भली भांति उद्धार हुआ है और उसके साथही बहुत जीवोंका कल्याण भी हुआ है; पर इस प्रकारके धर्मप्रचारकोंके उपदेशमें इतनी ही न्यूनता दिखाई पड़तीहै कि जिससे धर्मके सार्वभौम भावका सङ्कोच होगया है और वह उपदेश केवल एकदेशवादी

होरहा है। तीसरे प्रकारके "पण्डित" धर्मप्रचारक ये हैं कि जो न तो त्रिकालदर्शी ज्ञानी हैं, न भगवद्भाव-ग्राही साधक हैं, परन्तु केवल विद्याके बलसे शास्त्रकथित धर्मका प्रचार किया करते हैं। इस प्रकारके पण्डितधर्मप्रचारकोंको तीन भागमें विभक्त कर सक्त हैं, यथा उत्तम, मध्यम और अधम। जो पण्डितगण केवल तीक्ष्णधारयुक्त कृपाणकी नाईं अपनी प्रबल तर्कयुक्ति द्वारा औरोंके धर्ममतोंकाखण्डन कर डालते हों, परन्तु जीवोंके उपकारार्थ कोई श्रेष्ठ पथ नहीं बता सक्ते हों वेही अधम-पण्डितधर्म प्रचारक कहा सक्ते हैं। जो विद्वान् अपनी न्यायपूर्ण युक्ति द्वारा दूसरोंको मत में मिला उनको अपने अधीनमतावलम्बी कर सक्ते हों वे मध्यम-पण्डित-धर्मप्रचारक हैं। और जिन महानुभाव शास्त्रज्ञानियोंकी प्रवृत्ति दूसरेके मत खण्डन करने पर न हो, किन्तु सदा उनकी प्रवृत्ति यही बनी रहे कि सब सम्प्रदाय ही शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यको समझें क्योंकि शास्त्र सबके ही हितकारी हैं, ऐसे विज्ञगणही उत्तम-पण्डित-धर्मप्रचारक हैं। इन तीनोंमेंसे अधम-पण्डित-धर्मप्रचारक धर्म-राज्यमेंसे नगरों को वन कर डालते हैं, मध्यम श्रेणीके पण्डित

धर्म्मप्रचारक गण धर्म-राज्यसे निकृष्ट प्रजाको बाहर कर उत्कृष्ट प्रजाकी वृद्धि करते रहते हैं और उत्तम पण्डितधर्मप्रचारक अपनी सर्व-हितकारिणी बुद्धिसे धर्म-राज्यकी उत्तम प्रजाओं को उत्तम-कर्म और अधम प्रजाओंको अधम कर्म सौंपकर राज्यको शान्तिमय करनेका उद्योग करते हैं। अधमपण्डितप्रचारक द्वारा नास्तिकता, अशान्ति और अधार्मिकता फैलनेकी सम्भावना है, मध्यम प्रचारक द्वारा दाम्भिकता और साम्प्रदायिक विरोध बढ़नेका भय है (क्योंकि ये प्रचारकगण प्रायः किसी न किसी साधक प्रचारकके मतावलम्बीही हुआ करते हैं) और उत्तम प्रचारक द्वारा धर्मभूमिमें सुफल फलनेकी बहुत आशा होती है क्योंकि उसके उपदेश ज्ञानी धर्मप्रचारक गण अर्थात् महर्षियोंके मतानुयायी हुआ करते हैं। अधम पण्डितधर्म-प्रचारकगण नरक, मध्यम-पण्डित धर्म्मप्रचारकगण स्वर्ग और उत्तम-पण्डित-धर्म्मप्रचारकगण मुक्तिके उपदेशक हैं।

ज्ञानीधर्म्मप्रचारकगणके विषयमें तो कुछ कहाही नहीं जासक्ता, क्योंकि उनमें ज्ञानका पूर्ण विकाश होनेके कारण वे त्रिकालदर्शी और सर्वज्ञ हुआ करते हैं; आजकल भी गृहत्यागी संसारविरागी साधुगणमें कहीं कहीं इस प्रकार

के धर्म्मप्रचारक देखपड़ते हैं, जहां उनका गमन होता है उस प्रदेशके सब प्रकारके जीवोंको उनसे उपकार ही पहुंचता है। समय समय पर जैसे साधक धर्म्मप्रचारक गणने प्रकट होकर जीवोंका कल्याणसाधन किया है वैसे श्रेष्ठ अधिकारी तो सब समय नहीं मिलते हैं परन्तु तो भी साधन-राज्यमें साधकधर्म्मप्रचारक कभी कभी दिखाई दिया करते हैं। ये प्रचारकगण भगवद्राज्यके दर्शक होते हैं और जो कुछ वे भावोंका प्रकाश करते हैं वह ठीकही करते हैं। उनके उपदेश एकदेशी तो होते हैं परन्तु असत्य अथवा भ्रमाकारी नहीं होसक्ते। और तीसरे प्रकारके धर्म्मप्रचारक पण्डितोंकी बुद्धि योगयुक्त न होनेके कारण सर्व्वदर्शिनी नहीं होती और साधनयुक्त न होनेके कारण भगवद्भावग्राहिणी भी नहीं होती केवल शास्त्रही उनका अवलम्बन है। यद्यपि जो कुछ वे कहते हैं शास्त्रसे ही कहते हैं परन्तु बुद्धिके दोषसे शास्त्रके अर्थज्ञानमें भी फेर पड़ सक्ता है। बुद्धि त्रिगुणमयी है, जिन पुरुषोंकी बुद्धि सात्त्विकी होती है वे शास्त्रका ठीक अर्थ लगा सक्ते हैं; परन्तु जिनकी बुद्धि राजसिक हो वे अहङ्कार आदिके वशीभूत होकर शास्त्रके अर्थको भी अपने मतानुयायी समझ लेते हैं और

तामसिक बुद्धिकी तो कथा ही नहीं, क्योंकि तमोगुणके कारण उनमें भ्रम होनेकी सब समय ही सम्भावना रहती है * । दैवकृपासे पण्डितधर्म्मप्रचारककी बुद्धि सात्त्विकी हुई तो शास्त्रोंके अर्थका ठीक पता लग कर जिज्ञासुओंके हृदयमें शान्ति पहुंच सकती है, यदि उनमें राजसिकभाव हुआ तो उनके उपदेशोंसे साम्प्रदायिक विरोध बढ़ने लगता है और यदि उनमें तमोगुण अधिक रहा तो उनके उपदेशोंसे प्रमाद नास्तिकता आदि बढ़ जायगी । इस कारण पण्डितप्रचारकगणको उचित होगा कि वे प्रथम अपनी बुद्धिको शुद्ध कर सत्त्वगुणी कर लें और पीछे धर्मप्रचार आरम्भ करें। सत्त्वगुणका लक्षण प्रकाश और ज्ञान, रजोगुणका लक्षण अहङ्कार और कर्म्ममें उत्साह तथा तमोगुणका लक्षण प्रमाद और अज्ञान है । तमो-

* प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्य्याकार्य्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
यया धर्म्ममधर्म्मंच कार्य्यञ्चाकार्य्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
अधर्म्मं धर्म्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥
श्रीगीतोपनिषद् ।

गुण स्वतःही रजोगुणसे दब जाता है और रजो-गुण स्वतःही सत्त्वगुणके अधीन होजाता है। इस कारण सत्त्वगुणही प्रधान है और इससे सत्त्वगु-णावलम्बी पण्डित ही धर्मप्रचार करनेके यथार्थ अधिकारी हो सक्ते हैं * ।

---

* सत्त्वंरजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निवध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥
तत्र सत्त्वं निर्म्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन वध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥
रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्म्मसङ्गेन देहिनम् ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्व्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥
सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्म्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्म्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

इति गीतोपनिषद् ।

कोई कोई स्वदेशहितैषी विचारकगण ऐसा विचार करने लगते हैं कि जब भारतवर्षमें नाना सम्प्रदाय हैं तो उन सबके लिये एक ही प्रकारका धर्म्मोपदेशक कैसे सम्भव होसक्ता है? स्थिर बुद्धि द्वारा विचारने से यही सिद्धान्त होगा कि चाहे अनन्त धर्म्मसम्प्रदायोंके बहिर्लक्षण अनन्त हों, चाहे एक सम्प्रदायके आचारसे दूसरे सम्प्रदायके आचार न मिलते हों, परन्तु धर्म्मकी गति उन सब सम्प्रदायोंमें एक ही प्रकारकी होगी; अर्थात् बहिरङ्गसाधन चाहे उन सबमें अलग अलग हों, परन्तु अन्तःकरणकी धर्म्मवृत्तियोंको सभी सम्प्रदाय एकमत होकर ग्रहण कर सकेंगे। महाराजा युधिष्ठिरकी सत्यप्रियता और सहिष्णुता, देवव्रतकी दृढप्रतिज्ञता, लक्ष्मणका भ्रातृ-भाव और जितेन्द्रियता, सावित्री और सीताका सतीत्व, महर्षि वसिष्ठकी शान्ति और क्षमा, भीष्म पितामहका त्याग, शुकदेवजीका वैराग्य और देवर्षि नारदकी भगवद्भक्ति किस सम्प्रदायको प्रिय नहीं होगी? और इस प्रकारकी श्रेष्ठ वृत्तियोंके धारण करनेसे किस सम्प्रदायके साधकगण उन्नत नहीं हो सक्के? अपने देशके धर्म्मसम्प्रदायोंकी तो

कथा ही नहीं, समस्त पृथिवी पर जितने धर्म्म-सम्प्रदाय उपस्थित हैं वे सब ही उस प्रकारकी आन्तरिक वृत्तिकी उन्नतिकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सक्ते। यदि धर्म्मप्रचारकगण सार्वभौम दृष्टि रखकर जीवोंको उद्धारका पथ बताते रहें तो कदापि किसी सम्प्रदायको क्लेश और किसी अधिकारीको हानि पहुंचनेकी सम्भावना नहीं है। सार्व्वभौम भित्ति पर स्थित रह कर और ऊपरसे लेकर नीचे तक सकल स्थानोंमें सम दृष्टि रख कर यदि धर्म्मप्रचारक गण धर्म्मप्रचार में प्रवृत्त हों तो वे कदापि विफलकाम नहीं होंगे और उनसे किसीको भी हानि नहीं पहुंचेगी। धर्म्म ईश्वरराज्यका पदार्थ है इस कारण ईश्वर राज्यके पदार्थसे कदापि किसीको हानि नहीं हो सक्ती। प्रत्येक साम्प्रदायिक धर्म्ममें जो कुछ सार्वभौम धर्म्मका भाव है वह अंश जिस प्रकार सब सम्प्रदायोंको ही उपयोगी हुआ करता है उसी प्रकार सार्व्वभौमरूप सर्व्वोत्तम भित्ति पर स्थित होकर यदि धर्म्मप्रचारकगण धर्म्मका प्रचार करें तो वह धर्म्मप्रचार सर्व्वजीव-कल्याणकारी होगा। त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षिगण इसी उन्नत भित्ति पर स्थित होकर सदा धर्म्म-

प्रचार किया करते थे, इस कारण उनके उपदेशोंमें ज्ञानभूमिके तारतम्यसे अधिकारनिरोध रहने पर भी उनके उपदेशसमूह सर्व्वजीवहितकारी हैं।

प्रचार शब्दका अर्थ प्रकट करना है, अर्थात् धर्म्मके यथार्थ तत्त्वोंको संसारमें प्रकट करना ही धर्म्मप्रचार कहाता है। परन्तु धर्म्मप्रचार करने का अधिकारी वही हो सक्ता है कि जो पूर्व-कथित सृष्टिसम्बन्धीय धर्म्मविज्ञानको पूर्णरूपसे जानता हो। श्रीगुरुदेव ही यथार्थमें धर्म्मप्रचारक-शब्दवाच्य हो सक्ते हैं। *तन्त्रशास्त्रोंमें श्रीदेवादि-*देव महादेवजीने कहा है कि त्रिकालदर्शी, सर्व शास्त्रवेत्ता, धर्म्मज्ञ, पूर्णसत्त्वगुणावलम्बी पुरुष ही गुरुशब्दवाच्य हो सक्ते हैं * और ऐसे

---

* स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।
उपनीय ददद्वेदमाचार्य्यः स उदाहृतः॥ महर्षियाज्ञवल्क्यः॥
सर्व्वदर्शी तु यः साधुर्मुमुक्षूणां हिताय वै।
व्याख्याय धर्म्मशास्त्रांशं क्रियासिद्धिप्रबोधकम्॥
उपासनाविधेः सम्यगीश्वरस्य परात्मनः।
भेदान् प्रशास्ति धर्म्मज्ञः स गुरुः समुदाहृतः॥
औपपत्तिकमंशन्तु धर्म्मशास्त्रस्य पण्डितः।
व्याचष्टे धर्म्ममिच्छूनां स आचार्य्यः प्रकीर्तितः॥
पञ्चतत्त्वविभेदज्ञः पञ्चभेदां विशेषतः।

पुरुषोंकी सहायता लेनेसे ही जीवगण कल्याणपद को प्राप्त कर सक्ते हैं। सत् अर्थात् ब्रह्म और असत् अर्थात् मायाराज्य यह संसार है, इन दोनों को विशेषरूपसे जान कर जो पुरुषश्रेष्ठ सदा सत्-पथमें स्थित रहते हों वे ही उपदेष्टा अर्थात् गुरु होने योग्य हैं। ज्ञानिश्रेष्ठ महर्षि वेदव्यास

सगुणोपासनां यस्तु सम्यग् जानाति कोविदः ॥
चतुष्टयेन भेदेन ब्रह्मणः समुपासनाम् ।
गभीरार्थां विजानाति बुधो निर्म्मलमानसः ॥
सर्वकार्य्येषु निपुणो जीवन्मुक्तस्त्रितापहृत् ।
करोति जीवकल्याणं गुरुश्रेष्ठः स कथ्यते ॥
सर्वशास्त्रपरोदक्षः सर्वशास्त्रार्थवित्सदा ।
सुवचाः सुन्दरः स्वङ्गः कुलीनः शुभदर्शनः ॥
जितेन्द्रियः सत्यवादी ब्राह्मणः शान्तमानसः ।
मातृपितृहिते युक्तः सर्वकर्म्मपरायणः ॥
आश्रमी देशवासी च गुरुरेवं विधीयते ।
सप्तानां ज्ञानभूमीनां शास्त्रोक्तानां विशेषतः ॥
प्रभेदान् यो विजानाति निगमस्यागमस्य च ।
ज्ञानस्य चाधिकारांस्त्रीन् भावतात्पर्य्यलक्ष्यतः ।
तन्त्रेषुच पुराणेषु भाषायास्त्रिविधां स्तुतिम् ॥
सम्यग्भेदैर्विजानाति भाषातत्त्वविशारदः ।
निपुणो लोकशिक्षायां श्रेष्ठाचार्य्यः स उच्यते ।

इति विज्ञानभाष्ये

महर्षि कपिल, महर्षि याज्ञवल्क्य, महर्षि पतञ्जलि, महर्षि गौतम आदि महात्माओंने अपने अपने ग्रन्थोंमें यही प्रकाश किया है कि प्रज्ञा अर्थात् ज्ञानके तीन भेद कर सक्ते हैं । यथा—उत्तम, मध्यम और अधम । उत्तम प्रज्ञा विदेह लय अवस्थामें अर्थात् मुक्त पुरुषको शरीरत्याग करते समय प्राप्त हुआ करती है, उत्तम प्रज्ञाके बलसे ही जीव शरीर त्याग करते समय आकाशपतित वारि बिन्दुकी नाईं ब्रह्मरूप सागरमें मिलकर मुक्तिपद को प्राप्त कर लेते हैं, इस कारण इस स्थान पर उत्तम विवेकका वर्णन करना अनुचित है । और अधम प्रज्ञा वह कहाती है कि जब मनुष्य ज्ञान भूमिमें पहुंचकर उन्नत तो हो गया हो अर्थात् बुद्धिकी उन्नति तो उसमें होने लगी हो, परन्तु बुद्धि अभी निर्मल न होनेके कारण अन्तःकरणमें सन्देहकी स्थिति रहती हो । यह अवस्था यदि च मनुष्योंके लिये उन्नत है परन्तु संशयकी स्थिति रहनेके कारण गुरुपद वाच्य नहीं हो सक्ती; अर्थात् जब तक किसी पुरुष के चित्तमें संशय शेष रह जाता है तब तक वह पण्डित होने पर भी जीवगण का धर्म्मोपदेष्टा बनने योग्य नहीं हो सक्ता ।

परन्तु इन दोनों अधिकारोंके बीचका जो अधिकार है वही मध्यम प्रज्ञाकी अवस्था गुरु अर्थात् उपदेशक-पदवाच्य हो सक्ती है और पूज्यपाद महर्षियोंने एवं स्वयं भगवान् सदाशिवने ऐसी ही आज्ञा दी है। मध्यम प्रज्ञाकी अवस्था वह कहाती है कि जब साधनकी पूर्णतासे महात्माओंको भगवत्साक्षात्कार होने पर उनका चित्त संशयशून्य हो गया हो और वे बन्धनमुक्त होकर आरम्भ किये हुए प्रारब्ध भोगनेके अर्थ ही शरीर धारण करते हुए जगत्में विचरण करते हों। शास्त्रोंमें मनुष्यकी इसी श्रेष्ठ अवस्थाको "जीवन्मुक्त" कहके वर्णन किया है। यदि च सम्पूर्ण ज्ञानी पुरुष ही उपदेशक हुआ करते हैं, तथापि केवल यह मध्यम प्रज्ञाकी अवस्थावाले अर्थात् पूर्णज्ञानी जीवन्मुक्त महात्मागणही यथार्थमें उपदेशक अर्थात् गुरु होने योग्य हो सक्ते हैं। इस कारण धर्म्मश्रवण और धर्म्म-प्रचारकरण इन दोनों अवस्थाओंमें ही गुरु और शिष्य अर्थात् उपदेशदाता और उपदेशग्रहीता दोनों पुरुषोंको ही वेदोक्त धर्म्म और प्रचार इन दोनों शब्दोंका यथार्थ तात्पर्य समझ कर अपने अपने कार्य्योंमें प्रवृत्त होना उचित है।

आजकल जिस प्रकार धर्म्मप्रचारकी शैली अधिक प्रचलित हो रही है उससे पुरुषार्थ होनेपर भी तदनुरूप फलकी प्राप्ति होना प्रतीत नहीं होता है, इसका कारण भी अन्वेषण करने योग्य है। क्योंकि कार्य्य और कार्य्यफल इन दोनों पर ही जब पूरा लक्ष्य रहेगा तबही उस कार्य्यसे कल्याण की प्राप्ति हो सक्ती है। आज कलकी नवीन धर्म्म-प्रचारकी शैलीमें देख पड़ता है कि धर्म्मप्रचा-रक पण्डित महोदय, अथवा रजोगुणप्रिय सन्न्यासी महोदय सभास्थलमें प्रायः व्याख्यानों द्वारा धर्म्मोपदेश दिया करते हैं। यह शैली राजसिक जगत्में परम उपकारी होने पर भी सात्त्विक जगत्के धर्म्मप्रचार कार्य्यमें फलदायक नहीं हो सक्ती और इसी कारण प्रबल पुरुषार्थ करने पर भी आजकलके साम्प्रदायिक धर्म्मप्रचा-रकगण वाक्यतः बहुत कुछ कर रहे हैं परन्तु कार्य्यतः उनसे धर्म्मजगत्में थोड़ा ही काम बन पड़ा है। इस शैलीसे राजसिक कामोंमें सफलता होने पर भी सात्त्विक कामोंमें कुछ भी विशेष सफलता अब तक नहीं देख पड़ी है। वर्तमान समयमें जो धर्म्मप्रचारशैली प्रचलित हो रही है

वह प्राचीन शैली नहीं है क्योंकि प्राचीन समयमें इस प्रकार बलपूर्वक धर्म्मोपदेश देनेकी प्रथा थी ही नहीं। व्याख्यान जिसको अंग्रेजी भाषामें लेक्चर अथवा स्पीच कहते हैं यह शैली यूरोपकी है; अर्थात् राजसिक पाश्चात्य विद्वानोंने रजोगुण के कार्य्य निकालनेके अर्थ यूरोपमें इस प्रथाका विशेष प्रचार किया है। आजदिन इस वक्तृतारूप चातुरीशिल्पसे राजसिक जगत्‌में बहुत कुछ काम भी निकल रहा है। उसी राजसिक शैलीके अनुकरण पर नवीन भारत भी उस शैलीको प्रधान सहायक मानने लगा है। परन्तु जो कार्य्य जिस गुणसे किया गया है उसका फल भी उसी गुणसे सम्बन्ध रखनेवाला होगा। विद्याभिमानी पण्डित महाशय जब धर्म्मव्याख्यान (स्पीच) देनेकी इच्छा करेंगे तब वे पहले ही रजोगुणके वशीभूत होकर अहंतत्त्वके अधीन होते हुए स्वयं ऐसी इच्छा प्रकाश करेंगे तो धर्म्मप्रचारकोंकी वह अवस्था रजोगुणकी हुई। पुनः विज्ञापन अर्थात् नोटिस बांटकर सभाका आह्वान करना आदि कार्य्य भी रजोगुणसम्भूत हुआ करते हैं। इस प्रकारसे प्रथम तो उपदेश ही राजसिक होते हैं, द्वितीयतः

श्रोता भी राजसिक वा तामसिक हुआ करते हैं अर्थात् परीक्षा करनेकी इच्छा, समय व्यतीत करनेकी इच्छा इत्यादि भावोंसे युक्त होकर श्रोता गण सभामें एकत्रित हुआ करते हैं। जो परीक्षा की इच्छासे आवें वे राजसिक श्रोता, जो समय काटनेके अर्थ अथवा प्रमाद आदिके वशीभूत होकर आवें वे तामसिक श्रोता हैं, इस में सन्देह नहीं। इस कारण जब धर्म्मोपदेश राजसिक और धर्म्मोपदेशग्रहोता राजसिक या तामसिक हुआ करते हैं तब नवीन धर्म्मप्रचार-शैलीसे कैसे सत्त्वगुणसम्भूत आत्मज्ञानकी प्राप्ति होना सम्भव है? रजोगुण और तमोगुणसे राजसिक तामसिक फलकी ही सिद्धि हुआ करती है, उनसे कदापि सात्त्विकफलप्राप्तिकी सम्भावना नहीं है। परन्तु प्राचीन कालमें जो धर्म्मप्रचारकी शैली थी उससे ही सब समय धर्म्माधिकार की प्राप्ति होगी। वह शैली सात्त्विक शैली है, इस कारण उससे फल भी सात्त्विक हुआ करता है। धर्म्मोपदेशदान व धर्म्मोपदेशग्रहण करनेकी सनातनधर्म्मोक्त प्राचीन शैली यह है कि प्रथम त्रितापसे तापित जिज्ञासु अपनेको अनुपयुक्त

समझकर दीनभावापन्न हो अपनी मङ्गलकामना-के अर्थ उपदेष्टा गुरुके स्थान पर जाकर नम्रता-धारणपूर्वक कर जोड़ कर उपदेशप्राप्तिकी इच्छा करे । प्रथम तो संसारको दुःखमय और धर्म्मज्ञान को सुखका कारण वही समझ सक्ता है जिस के हृदयमें कुछ वैराग्यकी उत्पत्ति हुई होगी । इस प्रकार वैराग्ययुक्त जिज्ञासु जब अपनेको अनुप-युक्त और गुरुको उपयुक्त समझ कर दीन और बद्धकर होता हुआ गुरुदेवके सन्मुख जायगा तो स्वतः ही उसका अन्तःकरण उस समय सत्त्वगुणका भाव धारण करेगा, इसमें सन्देह नहीं । इसी प्रकार जब निःस्पृह गुरुकी दृष्टि दीन और दुःखी शिष्य पर पड़ेगी तो पूर्णज्ञानमय तपः-स्वाध्यायरत व जीवहितकारी श्रीगुरुदेवके हृदय में अवश्य करुणाका उदय होगा और तबही उनमें सत्त्वगुणसम्भूत उपदेशक्रियाकी स्फूर्त्ति होगी । श्रीगुरु महाराज तो कुछ निज इच्छासे उपदेश नहीं देते कि उनमें रजोगुणका प्रकाश हो; किन्तु दयाके वशीभूत होकर ही परोपकार करने की इच्छासे वे जब शिष्यको उपदेश देंगे तो उनके हृदयमें उस समय सत्त्वगुणका पूर्ण विकाश ही

रहेगा, इसमें भी सन्देह नहीं। इस अभ्रान्त और अति उत्तम शैलीके अनुसार जब सत्त्वगुणावलम्बी शिष्य सत्त्वगुणभावापन्न श्रीगुरुदेवके निकट जाकर धर्म्मजिज्ञासा करेगा तब स्वतः ही उस धर्म्मप्रचार कार्य्यसे सात्त्विकफलरूप आत्मज्ञानात्मक धर्म्म-फलकी उत्पत्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं। धर्म्म ज्ञानमय सत्त्वगुण राज्यका पदार्थ है, जब गुरु और शिष्य अर्थात् उपदेशदाता और उपदेश-ग्रहीता दोनोंही सत्त्वगुणमें स्थित होंगे तभी धर्म्म-लाभकी सम्भावना है; अन्यथा और गुणोंके कार्य्योंसे कदापि सत्फलकी आशा नहीं है। राज-नैतिक उन्नति, सामाजिक उन्नति अथवा और और सांसारिक वैषयिक उन्नति जिस रीति पर हो सक्ते है उस रीति पर सात्त्विक धर्म्मोन्नति होनेकी सम्भावना नहीं। शुद्ध धर्म्म केवल ईश्वर राज्यका पदार्थ है, इस कारण जब उपदेशदाता और उपदेशग्रहीता दोनों ही संसारसे दृष्टि हटा कर ईश्वरराज्यमें पहुंच जावें तभी प्रचारकके धर्म्मप्रचारका फल और श्रोताके धर्म्मश्रवणका फल यथार्थरूपसे प्रकाशित हो सक्ता है।

ऊपरके विचारमें यह सिद्ध किया गया है कि

व्याख्यान देनेकी शैली राजसिक है परन्तु इससे यह न समझा जाय कि इस ढंगकी सात्त्विक शैली हो ही नहीं सक्ती । सत्त्वगुणावलम्बी होकर जगत् के दुःखसे करुणार्द्र अन्तःकरण होते हुए जो व्याख्यान दिया जायगा उससे अवश्य सात्त्विक फलकी उत्पत्ति होगी और देश भरमें सामाजिक संस्कार, विद्याकी उन्नति और धर्म्मप्रवृत्तिके अर्थ प्रजाओंमें उत्तेजना फैलानेके लिये तो व्याख्यान परम हितकर है। प्राचीन कालसे पुराणादि शास्त्रोंके व्याख्यानकी शैली, व्यासासन पर बैठकर धर्म्म-उपदेशकी शैली, सभामें बैठकर उत्तर-प्रत्युत्तर व शङ्का-समाधानकी शैली चली आती है। आजकल की यह शैली भी उन्हीं शैलियोंके अन्तर्गत समझी जा सक्ती है। जो सुकौशलपूर्ण कार्य्य किया जाता है तो उससे फलकी सिद्धि हाथोहाथ मिला करती है। सुकौशलपूर्ण कार्य्य कदापि निष्फल नहीं होता । उलझी हुई ग्रन्थिको यदि सुकौशलपूर्ण क्रिया द्वारा सुलझाने लगें तो वह तुरन्त ही सुलझ जायगी। परन्तु सुकौशलका अभाव होनेसे सुलझनेका तो पता ही नहीं किन्तु वह ग्रन्थि और भी उलझती जायगी। इस कारण धर्म्म और प्रचार

इन दोनों शब्दोंके यथार्थ भावको ग्रहण करके सुकौशल पूर्ण उद्योग द्वारा धर्म्मप्रचाररूप पुरुषार्थ करनेसे अवश्य ही फलकी प्राप्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं। लोकहितरूप धर्म्मपुरुषार्थमें रत, परोपकारव्रतधारी, जगत् को ईश्वरका रूप समझकर लोकसेवाबुद्धिमें दृढव्रत, धर्म्मवक्ता यदि धर्म्मव्याख्यान देते समय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रकथित सात्त्विकज्ञान * का लक्षण स्मरण रक्खेंगे और धर्म्मस्वरूप का वर्णन करते समय और उपदेश देने योग्य प्रजाके साथ बर्ताव करते समय महर्षि याज्ञवल्क्यकी आज्ञा † को मनमें रक्खेंगे तो स्वयं भी कृतार्थ होंगे और जनसमाजको भी कृतार्थ करेंगे।

इति प्रथमोऽध्यायः।

---

* सर्व्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्ष्यते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

इति गीतोपनिषद्।

† धर्म्मं यो बाधते धर्म्मो न स धर्म्मः कुधर्म्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्म्मः स धर्म्मो मुनिपुङ्गव॥

महर्षियाज्ञवल्क्यः॥

द्वितीय अध्याय ।

उपदेशप्रणाली ।

आर्य्यजातिकी अनादि शैली और सनातनधर्म्मके चिरस्थायी नियमके अनुसार सब कार्य्योंके प्रारम्भमें मङ्गलाचरणका होना एक चिरस्थायी नियम है । सनातनधर्म्मका लक्ष्य अन्तर्मुख होनेके कारण और आर्य्यजातिमें स्वाभाविक आस्तिकता रहनेके कारण विना मङ्गलाचरण किये कोई कार्य्य प्रारम्भ करना उचित नहीं है । यदि निष्काम वृत्तिसे देखा जाय तो सब प्रकारके सुखों और सब प्रकारके धर्म्मोंके आधारभूत एकमात्र आश्रयस्थल श्रीभगवान् ही हैं * । इस कारण निष्कामवक्ताके लिये मङ्गलाचरण करना कर्तव्य ही है । और सकाम धर्म्मवक्ताके लिये मङ्गलाचरण करना परम कर्तव्य है क्यों कि विना श्री भगवान्की कृपाके कोई कार्य्य सुसिद्ध नहीं हो सक्ता । चाहे आचार्य्य शिष्यको उपदेश दे,

* ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
श्रीगीतोपनिषद् ।

चाहे संन्यासी गृहस्थको उपदेश दे, चाहे धर्म्मोपदेशक किसी जनसमूहको उपदेश दे, सबसे प्रथम मङ्गलाचरण करना अवश्य कर्तव्य है। मङ्गलाचरण केवल वाक्य द्वारा न किया जाय, किन्तु मनसे भगवच्चिन्तनरूप मङ्गलाचरण हो रहा है, इसका प्रधानतः ध्यान रक्खा जाय। यद्यपि व्यक्तिगत उपदेशके समय बहिर्मङ्गलाचरणकी इतनी आवश्यकता नहीं है परन्तु मानसिक मङ्गलाचरण उस समय भी किया जाय। मङ्गलाचरण करते समय अपनेको लघुशक्ति और श्रीभगवान्‌को गुरुशक्ति मानकर एकाग्रचित्त होकर प्रार्थना की जाय। उस समय चित्तकी धारणा ऐसी होनी उचित है कि श्रीपरमात्मा सर्वशक्तिमान् हैं और मैं अल्पशक्तिविशिष्ट हूँ अतः जो कुछ होगा सो उनकी कृपासे ही होगा और उस समय ऐसा अवश्य विचार रक्खा जाय कि उपदेशदानका कार्य्य भगवत्कार्य्य है, मैं उन्हींकी कृपासे इस धर्म्मकार्य्यमें निमित्त बनाया गया हूं।

धर्म्मवक्ताओंको चार श्रेणीमें विभक्त कर सक्ते हैं; प्रथम गुरु अथवा आचार्य्य, द्वितीय संन्यासी और साधु, तृतीय पुराणवक्ता और

चतुर्थ धर्मव्याख्यान करनेवाले महोदयगण। जैसे श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके तीन श्रेणीके धर्म्मवक्ता हैं। प्रथम शैली यह है कि गुरु मानकर जिज्ञासु गण आचार्य्यके सम्मुख उपस्थित हों और प्रार्थना करने पर जिज्ञासुकी योग्यताके अनुसार यथायोग्य धर्म्मोपदेश दिया जाय। दूसरी शैली यह है कि संन्यासाश्रमधारियोंमेंसे बहूदक, हंस, परमहंस–इन तीन अवस्थाओंके संन्यासाश्रमधारी महापुरुषगण अथवा अन्यप्रकारके निवृत्तिमार्गगामी साधुगण देशभ्रमण करते समय जिन जिन स्थानोंमें पहुंचें वहांके अधिवासियोंकी प्रार्थना पर अपने आश्रमकी मर्य्यादारक्षा करते हुए धर्म्मोपदेश देवें। तीसरी शैली यह है कि व्यासासन पर बैठ कर पुराणशास्त्रोंके अवलम्बनसे जनसमूहमें स्वेच्छानुसार शास्त्रोंकी व्याख्या करते हुए उपदेश देना। चतुर्थ शैली यह है कि किसी सभामें खड़े होकर उस सभाके सभापति द्वारा नियमबद्ध होते हुए व्याख्यान देना। हरिकथावालोंको उनकी उपदेशशैलीके विचारसे किसी विशेषश्रेणीमें डाल सक्ते हैं, क्योंकि हरिकथाआदिकी शैलीमें पुराण गाथाका भी सम्बन्ध है, सङ्गीतका भी सम्बन्ध है, वक्तृताका भी सम्बन्ध है और अभिनयका भी

सम्बन्ध है। यह शैली दक्षिण भारतमें हरिकथाके नामसे और पूर्व्व भारतमें कथकताके नामसे प्रसिद्ध है। अपने अपने देश-काल-पात्रके अनुसार पूर्व्व-कथित सब प्रकारकी उपदेशशैली धर्म्मके पुनरभ्युदय के अर्थ और लोकशिक्षाके अर्थ हितकारिणी हो सक्ती है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इन सब धर्म्मो-पदेष्टाओंको अपने अपने कर्तव्यज्ञान और यथाधि-कार उपदेशविज्ञानका सम्पादन करके तब अपने अपने गुरुतर कार्य्योंमें प्रवृत्त होना उचित है।

शब्द जब अन्तर्राज्यमें पहुंचाये जाते हैं तब शब्दसे अर्थ और अर्थसे भावकी उत्पत्ति दूसरोंके अन्तःकरणमें हुआ करती है। इस विज्ञानको और भी स्पष्टरूपसे समझनेके लिये यह कहा जा सक्ता है कि धर्म्मोपदेशक सबसे प्रथम लोकसमाजमें दानवृत्तिके उदय करानेके अर्थ जो वक्तृता देगा वह अपने शब्दों द्वारा दानसम्बन्धी तथा दान-धर्मप्रवर्तक भावोंके द्वारा संवलित शब्दोंको जन समाजमें कहेगा, साथही साथ दया आदि वृत्तिके उद्रेककारी हावभावमुद्राद्वारा करुणा-रसका भी आविर्भाव करावेगा। वे शब्द श्रोताओंके अन्तःकरणमें प्रथम अर्थरूपसे प्रविष्ट होकर धर्म्मके भाव उत्पन्न करेंगे और दूसरी ओर

से करुणारसप्रवर्धक वक्ताके मुद्रा हाव भाव इङ्गित चेष्टा आदि नेत्र द्वारा पहुंच कर करुणारसका उद्रेक करते हुए श्रोताओंके उक्त धर्मभावोंकी पुष्टि करेंगे। तत्पश्चात् श्रोताओंके हृदयमें उक्त धर्म्म-भावोंसे व करुणारसकी सहायतासे प्रतिक्रिया-रूपी दानवृत्तिकी उत्पत्ति करेंगे। इसी उदाहरणसे उपदेशका विज्ञान समझनेमें पूर्णरीतिसे सहायता प्राप्त होसक्ती है। अब यह सिद्ध हुआ कि सब प्रकारके वक्ताओंको शास्त्रसंवलित रहस्योंके प्रकट करनेमें, शब्दविन्यासकी यथायोग्य योजना करनेमें, पूर्णरीतिसे रसज्ञ होनेमें, रसोंको मुद्रा चेष्टा हाव भाव आदिके द्वारा प्रकट करनेकी योग्यताके सम्पादनमें और यथायोग्य अधिकारीको पहचान कर यथा-योग्य शब्दोंके प्रयोग करनेकी योग्यता प्राप्त करने में पूर्णरूपसे शिक्षा प्राप्त करना उचित है। साधु, महात्मा, पुराणवक्ता अथवा धर्म्मोपदेशक जो कोई क्यों न हो जब लोकसमाजमें उपदेश द्वारा कोई सात्त्विक अथवा राजसिक कार्य्य करना चाहेंगे तो तप विद्या आदिके अतिरिक्त उनको ऊपर लिखित पांच विषयोंमें अवश्य योग्यतासम्पादन करना पड़ेगा।

अलङ्कार प्रधानतः दो प्रकारके हैं, एक शब्दा-

लङ्कार और दूसरा अर्थालङ्कार । शब्दालङ्कारमें अनुप्रास यमक श्लेष आदि भेद माने गये हैं और अर्थालङ्कारमें उपमा उत्प्रेक्षा रूपक अतिशयोक्ति निदर्शना दीपक तुल्ययोगिता आदि अनेक हैं। सृष्टि अनन्त होनेके कारण भाव अनन्त हैं। इस कारण अर्थालङ्कार भी अनन्त होना सम्भव है। शब्दसंगठन करनेकी रीति चार हैं। यथा--वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी। और शब्दोंके गुण तीन हैं। यथा-माधुर्य्य, ओज और प्रसाद। माधुर्य्यगुणके साथ करुणारसका सम्बन्ध है और ओजगुणके साथ वीर वीभत्स रौद्ररसका साक्षात् सम्बन्ध है और प्रसादगुणके साथ सामान्य रूपसे समग्र चतुर्दश रसोंका सम्बन्ध है और विशेष रूपसे सात मुख्य रसोंका सम्बन्धहै। अद्भुत हास्य भयानक ये तीनों रस अवस्थाभेदसे स्वतंत्रताके साथ कभी माधुर्य्यगुणके साथ और कभी ओजगुणके साथ सम्बन्धयुक्त होते हैं। सुतरां साहित्यशास्त्रके अनुशीलन द्वारा ऊपर लिखित विषयोंका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना वक्ताका कर्तव्य होगा। उक्त विषयोंका ज्ञान प्राप्त करनेसे और जिस भाषामें बोला जाय उस भाषाको भली भांति सीख कर स्वायत्त कर लेनेसे उपदेशक शब्दविन्यासकी यथायोग्य योजना करनेमें समर्थ हुआ करता है।

उपासना काण्डका प्रवर्तक भक्तिदर्शन सब समेत चौदह रस मानता है * । वीररस, करुणारस, अद्भुतरस, हास्यरस, भयानकरस, बीभत्सरस, और रौद्ररस ये सात गौण रस माने गये हैं † क्योंकि इनके साथ अज्ञानका सम्बन्ध है । शृङ्गारसके दो भेद हैं । यथा लौकिक शृङ्गार और शुद्ध शृङ्गार । लौकिक शृङ्गारको काव्य शास्त्रके अनुसार आचार्योंने गौणरसोंके साथ ही अभिहित किया है और शुद्धशृङ्गारके ही भक्ति मार्गके आचार्य्योंने अन्य मुख्यरसरूपसे सात भेद किये हैं । भक्तिविज्ञानके अनुसार भगवान् रसमय हैं ‡ सुतरां भक्तिशास्त्रके अनुसार कार्य्यब्रह्म और कारण ब्रह्म दोनों रसरूप अर्थात् शृङ्गाररूपी हैं । उसी प्रकृतिपुरुषात्मकविलासरूपी शृङ्गारमयी सृष्टि क्रियाके सात मुख्यरस और सात गौणरस हैं । सात मुख्यरसोंके नाम यथा—दास्य, सख्य, कान्त,

---

* भावमयहृदयस्य चतुर्दशविधतया सप्तज्ञानभूमयः सप्ताज्ञानभूमयः । इति भक्तिदर्शनम् ।

रसज्ञानमपि चतुर्दशधा तत्र सप्त मुख्याः सप्त गौणाः । इति भक्तिदर्शनम् ।

† हास्यादयो गौणाः । इति भक्तिदर्शनम् ।

‡ रसो वै सः । इति श्रुतिः ।

वात्सल्य, आत्मनिवेदन, गुणकीर्तन, और तन्मय हैं *। भक्तिशास्त्रके अनुसार सब रसोंकी परिसमाप्ति एक ही है अर्थात् शुद्धरस तो मुक्तिदायक हैं ही। परन्तु जिस प्रकार योग दर्शनके विज्ञान द्वारा प्रत्येक इन्द्रियकी जो शुद्धविषयवती प्रवृत्ति हैं वे सब जिस प्रकार चित्तको एकाग्र करके समाधिप्राप्तिका कारण होती हैं † उसीप्रकार गौणरस भी मलिनभावयुक्त होने पर भी शुद्धभावयुक्त होने पर मुक्तिदायक भक्तिके प्रवर्तक होसकते हैं। क्योंकि भगवान् रसरूप हैं, सब वैभव उन्हींका ही है। अपिच उपदेशकको लौकिक रसशास्त्र और भक्तिमार्गोक्त रसविज्ञान दोनोंको भलीभांति हृदयङ्गम कर लेना उचित है। पूर्णरसज्ञ होने पर धर्मवक्तापदवाच्य हो सक्ता है।

उपासनाविज्ञानमें जिस प्रकार उपासना मुद्राओंका सम्बन्ध रक्खा गया है, यथा-शङ्खमुद्रा, चक्रमुद्रा, धनुषमुद्रा, गरुडमुद्रा, कपिमुद्रा इत्यादि;

---

* दास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तिगुणकीर्तनासक्तितन्मयासक्तयश्च मुख्याः ॥

इति भक्तिदर्शनम्।

† विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी।

इति श्रीभगवान्पतञ्जलिः।

उसी प्रकार उपदेशकको भी वहिरिङ्गितरूपी नाना चेष्टा व हावभावसे सम्वलित मुद्राओंका प्रकाशित करना हितकारी होता है। प्राचीन आर्य्य-गणमें धर्म्मोपदेशसम्वन्धी कुछ मुद्राओंका प्रचार है। यथा—भक्तिमुद्रा, ज्ञानमुद्रा, अभयमुद्रा, वरमुद्रा इत्यादि। परन्तु ये सव मुद्राएँ सत्त्वगुण-सम्वन्धी हैं। रजोगुणसम्वन्धी वक्तृताके उपयोगी मुद्राओंका प्रचार वर्तमान आर्य्यशास्त्रोंमें कम मिलता है। इस समय पाश्चात्य अर्वाचीन जाति-योंमें शिक्षाकी उन्नति, शिल्पकलाकी उन्नति, समा जोन्नति, राजनैतिक उन्नति आदि राजसिककार्य्योंके लिये वक्तृताकी सहायता वहुत कुछ ली जाती है। उक्त जातियोंमें सभी शिक्षित मनुष्य वक्तृता देना जानते हैं। वहां इस शैलीका वहुत प्रचार है। इसी कारण उक्त जातिके वक्तृतासम्वन्धी शिक्षापुस्तकोंमें इस प्रकारकी मुद्राओंका वर्णन वहुत है। भारतवर्षमें शिक्षाप्रचार, धार्म्मिकउत्ते-जनावृद्धि, शिल्पोन्नति, वाणिज्योन्नति, समाजो-न्नति, नियमवद्ध अनुशासनस्थापन, सभासमिति-योंका स्थापन इत्यादि लोकहितकर, धर्माभ्युदय-कर और शिक्षाविस्तारकारी आदि कार्य्योंके लिये जो धर्म्मवक्तागण पुरुषार्थ करना चाहेंगे उनको

पाश्चात्यजातियोंके वक्तृतासम्बन्धी पुस्तकोंकी मुद्रा-सम्बन्धी रीतियोंका अनुशीलन करना चाहिये और उनकी मुद्राओंमेंसे जो जो मुद्रा अपने देश के अनुकूल समझी जाय उसको ग्रहण करना चाहिये । पाश्चात्य जातियोंके एक बड़े भारी वक्ता डिमोस्थिनिस् जो उस देशमें वक्तृताविज्ञान के आदर्श समझे जाते हैं उनसे किसी जिज्ञासु ने तीन बार प्रश्न किया था कि ओजस्विनी वक्तृतामें सफलता प्राप्त करनेके लिये कौन सा विषय अधिक हितकर है । तीनों बार ही उक्त महाशयने यही उत्तर दिया कि जनसमूहमें प्रभाव डालनेके लिये मुद्रा ही अधिक फलदायक होती हैं । अस्तु वक्तृताविद्यामें योग्यता सम्पादनके अर्थ अलङ्कारज्ञान और रसज्ञानके साथही साथ सब अलङ्कार और सब रसोंके उपयुक्त मुद्राओंका अनुशीलन करना भी बहुत हितकर है ।

यथायोग्य मनुष्य और यथायोग्य सभाकी परीक्षा करके तब धर्मोपदेश देनेसे अधिक फल हुआ करता है । जैसे मनुष्यकी व्यक्तिगत प्रकृति, प्रवृत्ति, गुण, कर्म्म, स्वभाव, विद्या, बुद्धि इत्यादि का प्रथम अनुमान कर तब उसके उपयोगी

उपदेश देनेसे उस पर शीघ्र प्रभाव पड़ा करता है उसी प्रकार मनुष्यसमष्टिरूपी सभाकी परीक्षा लेकर उसके अनुसार वक्तृता देनेसे सभापर अधिक प्रभाव पड़ सक्ता है। जिस सभामें जिस प्रकृति, प्रवृत्ति, गुण, कर्म्म, स्वभाव, विद्या, बुद्धि आदिके मनुष्य अधिक हों उस सभामें उसी श्रेणी की वक्तृता देना उचित होगा। सभामें अधिक मनुष्यसंख्याका विचार रख कर वक्तृताकी शैली निर्द्धारित की जायगी परन्तु साथही साथ ऐसा भी यत्न करना पड़ेगा कि उस वक्तृताप्रवाहमें चलते हुए अन्य प्रकारके सभ्योंका चित्त भी यथासम्भव आकृष्ट होता रहे। व्यष्टिगत धर्म्मोपदेश से समष्टिगत सभासमितिमें धर्म्मोपदेश देनेकी शैली कुछ विचित्र ही है। इसी कारण सभाओंमें जो धर्म्मवक्तृता दी जाय उसमें वक्ताओंको सार्व्वजनिक तृप्तिका भी विचार रहना उचित है। सात्त्विक मनुष्योंको विज्ञान, राजसिक मनुष्योंको दृष्टांतदार्ष्टान्तपूर्ण युक्ति और तामसिक मनुष्योंको गाथा अधिक प्रिय होगी। सात्त्विक मनुष्योंको निष्कामभाव, राजसिक मनुष्योंको सकामभाव और तामसिक मनुष्योंको प्रिय, सुस्वर और रोचकभावयुक्त वक्तृता रुचिकर होगी। सात्त्विक श्रोता

थोड़े शब्दोंमें अधिकभावप्रकाशक शब्दोंको प्रिय समझेंगे, राजसिक श्रोता थोड़े सारको बहुत शब्दोंमें बढ़ा कर कहनेसे प्रिय समझेंगे और तामसिक श्रोता गम्भीरतारहित केवल पुष्पित शब्दों से प्रसन्न होंगे। सात्त्विक श्रोता ज्ञान, राजसिक श्रोता सुखके अर्थ प्रवृत्ति और तामसिक श्रोता विषयानन्दयुक्त शब्दोंसे प्रसन्न होंगे । सुतरां वक्ताकी योग्यता यही है कि उक्त प्रकारके शब्दों और भावोंको प्रकाशित करते हुए धर्म्मलक्ष्य न भूलें और अपने उद्देश्यके पूर्ण करनेमें दत्तचित्त रहें । अवश्य यह बात यहां कह देना उचित है कि ये सब बातें जो कही गई सो मुख्यतः सभा-समितियोंमे वक्तृता देनेवाले व्यक्तियोंके लिये समझनी चाहियें। श्रीगीताआदि शास्त्रोंमें जो तीनों गुणोंके लक्षण, त्रिविध कर्ता, त्रिविध बुद्धि, त्रिविध ज्ञान आदिका वर्णन है उन सबको हृदयङ्गम करके अधिकारीका निर्णय करनेमें सहायता प्राप्त करना धर्म्मवक्ताओंका कर्तव्य है।

पौराणिकवक्ता, हरिकथा आदि शैलीके वक्ता और सभा आदिमें धर्म्मोपदेश देनेवाले धर्म्मवक्ताओंको सङ्गीतशास्त्रका ज्ञान सामान्यरीतिसे करलेना विशेष हितकारी हुआ करता है।

षड्ज ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद इन सातों स्वरोंको प्रथम तीन सप्तकमें साधनेसे कण्ठ ठीक हो जाता है। उसके बाद श्रुति मूर्च्छना और रागरागिनियोंके कुछ भेद सीख लेना उचित है। कुछ कुछ यत्किञ्चित् तालका ज्ञान भी प्राप्त कर लेना उपयोगी है क्योंकि जिस प्रकार नादब्रह्मके साथ स्वरोंका सम्बन्ध है उसी प्रकार कालके साथ तालका भी साधकसिद्धरूपी सम्बन्ध है। रागरागिनियां बहुत हैं किन्तु केवल प्रत्येक यामार्द्ध अथवा प्रत्येक याममें गाने योग्य कुछ रागरागिनियोंका स्वरूप जानलेनेसे रसोंके उत्पन्न करनेमें और यथासमय श्रोताओं पर प्रभाव डालनेमें बहुत कुछ सहायता मिलेगी। वक्ता यदि सुकण्ठ हो तो वक्तृताका प्रभाव द्विगुण हो जाता है और यदि वक्ता सङ्गीतज्ञ हो, तो वक्तृताका प्रभाव अष्टगुण हो जाता है। संगीतज्ञ आचार्य्योंके निकट अल्पकाल तक शिक्षा प्राप्त करनेसे ही वक्ताको यह योग्यता प्राप्त हो सकती है। वक्तृता प्रारम्भ करते समय वक्ताको यही धारणा करनी चाहिये कि श्रीभगवान् गुरुशक्ति हैं, मैं लघुशक्ति हूं। मैं केवल निमित्त होकर भगवत्कार्य्य कर रहा हूँ। अतः केवल

भगवत्कृपासे ही यह कार्य्य पूर्ण होगा। परन्तु वक्तृता आरम्भ करनेके अनन्तर वक्ताको यही धारणा करना उचित है कि मैं ज्ञानी हूँ और मैं सब इन सभ्यगणको उपदेश देनेमें समर्थ हूँ। यदि सभामें कोई गुरुजन अथवा कोई माननीय व्यक्ति भी उपस्थित हो तो भी वक्ताके हृदयमें सभाक्षोभ होना कदापि उचित नहीं है। उस समय सब सभ्योंको उपदेश पाने योग्य ही समझना उचित है। इस प्रकारका चित्तबल सम्पादन किये बिना कोई भी योग्यवक्ता नहीं होसक्ता। दृष्टिके विषयमें यही नियम रखना उचित है कि जब सात्त्विक मनुष्योंके योग्य शब्द व्यवहृत हों उस समय सभामें उपस्थित एक दो सात्त्विक मनुष्योंको अपना लक्ष्य बना लिया जाय, जब राजसिक शब्द व्यवहृत हों उस समय किसी एक दो राजसिक गुणसम्पन्न सभ्योंको लक्ष्यभूत कर लिया जाय और जिस समय तामसिक श्रोताके उपयोगी वक्तृता दी जाय उस समय उस सभामें एक दो तामसिक अधिकारियों पर दृष्टि जमा कर वक्तृता दी जाय। ऐसा करनेसे वक्ताको बहुत कुछ फलकी प्राप्ति होती है।

वक्तृता प्रारम्भ करते समय बहुत शान्तिके

साथ उपदेशका प्रारम्भ करना चाहिये। परन्तु वक्तृता समाप्त करते समय बहुत ही ओजके साथ उसी ढंग पर समाप्त करना चाहिये कि जिस कार्य्यसिद्धिके लिये वक्तृता की गई है। जिस प्रकार किसी प्रवाहके नियमित करनेके लिये बीचबीचमें वेग देना पड़ता है उसी प्रकारसे धर्म्मोपदेशरूपी वाक्शक्तिको पूर्णफलप्रद करनेके अर्थ और व्याख्यानको पूर्वापरशक्तियुक्त रखनेके अर्थ वक्ता को इस विषयका अवश्य विचार रखना उचित है कि जब कभी श्रोतागण अवसादको प्राप्त हों उस समय उनको सुकौशलपूर्ण उपाय द्वारा सचेत कर दिया जाय। यथायोग्य अवस्थाके प्रहसन व यथायोग्य मर्मकी गाथाएँ इस कार्य्यके लिये उपयोगी होंगी। शिवनाम, देवीनाम, रामनाम, कृष्णनाम आदि यथायोग्य उपासकसम्प्रदायोंकी आवश्यकताके अनुसार युक्तिपूर्वक श्रोताओंके द्वारा उत्साहपूर्वक कहाया जाय, अथवा धर्मकी जयध्वनि कराई जाय। ऐसे कार्य्योंसे श्रोता और वक्ता दोनोंका ही उत्साहवर्द्धन होता है। समय समय पर मधुर रागरागिनीयुक्त स्तोत्रपाठ अथवा धर्म्मोत्साहवर्धक गीति द्वारा भी धर्म्मव्याख्यानकी शक्ति बहुत कुछ बढ़ जाया करती

है। इन बातोंके अतिरिक्त वक्ताको इस विषय का अवश्य ही विचार रखना उचित है कि अपने सम्पूर्ण व्याख्यानमें जब जब जिस प्रकार गुण, रस और भाव प्रकट हों उनके शब्दोंका बल भी तदनुकूल होता रहे।

वक्ताके कई बड़े बड़े दोष हो सकते हैं जिनसे बचनेके वास्ते वक्ताको सदा सावधान रहना चाहिये। जिसप्रकार हाव, भाव, मुद्राआदि यथा-समय, यथादेशकाल और यथारसभाव परम हितकर होते हैं उसी प्रकार असमय पर मुद्रा दिखाना, चञ्चलता करना, अङ्गको अधिक हिला-ना और ऐसे भाव प्रकाशित करना जिनसे दम्भ और अहङ्कारादि प्रकाशित हों; इत्यादि बातोंके करनेसे वक्ताका प्रभाव हीन हो जाता है। वक्तृतामें कदापि रससङ्कर नहीं होना चाहिये। जिस प्रकार शरीरके बात पित्त कफ तीन भाव हैं उसी प्रकार साहित्यशास्त्रमें भी माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण माने गये हैं। जिस गुणके साथ जिन जिन रसोंका सम्बन्ध है वे रस यदि एक दूसरेके बाद प्रकाशित हों तो सङ्कर नहीं कहाते और यदि वे सम्बन्धके रस एक दूसरेके बाद प्रकाशित न हों तो रससङ्कर हो जाता है और

उससे धैर्य्यवान् श्रोता विचलित होते हैं। उनको वास्तवमें वह रससङ्कर क्लेशकर होता है उदाहरण स्थल पर समझ सक्ते हैं कि शुद्ध शृङ्गारके हास्य, वात्सल्य आदि रसोंका परस्परमें मेल हो सक्ता है। वीर, रौद्र आदिका परस्परमें मेल हो सक्ता है। करुणा, भयानक आदिका परस्पर मेल है। परन्तु हास्य, वात्सल्यके साथ वीररसका मेल नहीं होसक्ता। शान्त रसका उदय होते समय यदि कोई हँसा देवे तो रसभावुकको क्लेश होता है। इन सब सूक्ष्मभावोंका ज्ञान वक्ता को अवश्य रहना उचित है। वक्तृतामें विषय-सङ्कर कदापि नहीं होना चाहिये अर्थात् जिस विषयसे व्याख्यान उठाया जाय उसी विषय पर व्याख्यानकी समाप्ति की जाय। यदि बीचमें अन्य विषय कहने पड़ें तो वक्ताको पूर्णरीतिसे साव-धान रहना चाहिये, जिससे वह अपना लक्ष्य नहीं भूले और अन्तमें मूल विषय पर ही उपदेश समाप्त हो।

तृतीय अध्याय ।

कार्य्यकुशलता ।

वर्णोंके गुरु ब्राह्मण और आश्रमके गुरु संन्यासी ये दोनों ही शास्त्रके अनुसार और प्राकृतिक नियमके अनुसार जन समाजमें उपदेश देने योग्य हैं। ब्राह्मणमात्र ही वर्णाश्रम धर्म्मकी सुरक्षा, समाजोन्नति, धर्म्माभ्युदय, शिक्षाविस्तार, आदि सब विषयों और प्रवृत्तिमार्गके सब अधिकारोंकी उन्नतिके अर्थ धर्म्मोपदेश देनेका अधिकार रखते हैं। और चतुर्थाश्रम प्राप्त संन्यासीगण कर्म्मयोगप्रचार, जीवकी आध्यात्मिक उन्नति और निवृत्ति मार्गके सब अधिकारोंके प्रचार करनेके अर्थ वेदाज्ञा द्वारा नियुक्त हैं। सुतरां ब्राह्मणमात्र और संन्यासीमात्रको धर्म्मोपदेश विज्ञानके यावत् रहस्योंसे परिज्ञात रहना उचित है।

वक्ता चाहे संन्यासी हों, चाहे गृहस्थ, वे जब तक स्वयं चरित्रवान् नहीं होंगे तबतक उनके वचनोंका स्थायी फल न होगा। व्याकरणशास्त्र और निरुक्तशास्त्रके द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि अन्तर्भावोंके साथ शब्दका अतिघनिष्ठ एकत्वसम्बन्ध रहता है। सुतरां यदि किसी व्यक्तिमें

वक्तृताशक्ति विशेष हो तो एकवार तो वह व्यक्ति अपने वाक्चातुर्य्यसे श्रोताओंको मोहित अवश्य कर लेगा, परन्तु यदि वह वक्ता स्वयं चरित्रवान् हुआ तो उसके उपदेशके द्वारा मनुष्योंके चरित्र पर स्थायी फल होगा। नहीं तो उसके बचन वन्ध्या स्त्रीकी नाईं होते हैं अर्थात् वन्ध्या स्त्री जिस प्रकार प्रथम दृष्टिमें मनोमुग्धकर होने पर भी अन्तमें फल-दायक नहीं होती उसी प्रकार चरित्ररहितके उपदेश स्थायी फलप्रद नहीं होते। सुतरां उपदेश-दाताको स्वयं पहले विचार लेना उचित है कि हम उपदेश देने योग्य हैं या नहीं। उपदेशकार्य भग-वत्कार्य्य है क्योंकि मन्दमति जीवको अन्तर्जगत् में अग्रसर करते हुए स्वरूपोन्मुख करना परमात्मा का कार्य्य है। उस कार्यमें जो कार्य्य सहायक हो वह भगवत्कार्य ही है। अस्तु, धर्म्मोपदेशकगणका दायित्व कैसा गुरुतर है यह सदा उनको स्मरण रखना उचित है। विशेषतः दानधर्म्म तीन प्रकार का है। यथा-अर्थदान, विद्यादान और अभयदान। उत्तरोत्तर अभयदान सबसे श्रेष्ठ है। और अभय-दानकी श्रेणीमें धर्म्मोपदेशदान व दीक्षादान सर्वो-परि माना गया है। अस्तु धर्म्मोपदेश देनेवाले व्यक्तिका पद कैसा महान् है इस विषयकी धारणा सब समय धर्म्मवक्ताको रहनी उचित है।

वेदोंमें आचार्य्य और गुरु ये दो शब्द पाये जाते हैं, शेष अधिकार, जो इस समय प्रचलित हैं वे सब इन्हीं दो अधिकारोंके सहायक हैं। आचार्य्य और गुरुके लक्षण इस पुस्तकके धर्म्मप्रचार नामक अध्यायमें कहे गये हैं। जो व्यक्तिगण दीक्षादान देने योग्य गुरुपद प्राप्त करनेकी इच्छा करें उनको विशेष रीतिसे योग्यता प्राप्त करना उचित है। गुरुका पद सर्व्वोपरि है। जब तक गुरु होने योग्य व्यक्ति सर्व्वशास्त्रज्ञ न होगा, जब तक वह व्यक्ति मन्त्रयोग हठयोग लययोग और राजयोग इन चारों योगोंके लक्षण साधन क्रम क्रिया सिद्धांश और इनके रहस्यसे परिज्ञात न होगा, * जबतक वह व्यक्ति मनुष्य परीक्षा और अधिकार निर्णयमें भलीभांति समर्थ न होगा, जब तक वह व्यक्ति ब्रह्मोपासनाका विज्ञान और पञ्चदेवात्मक सगुण उपासनाका रहस्य निरपेक्ष बुद्धि द्वारा उपलब्ध करनेमें समर्थ न होगा और जबतक वह व्यक्ति स्वयं विषयवैराग्यसम्पन्न, तपस्वी भक्तिमान् कर्म्मयोगी और ज्ञानी न होगा

* ग्रन्थकार प्रणीत मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता और राजयोगसंहिता द्रष्टव्य।

तबतक वह व्यक्ति यह महान् पदवी प्राप्त करने योग्य नहीं है और तबतक किसी व्यक्तिको ऐसे कार्य्यमें प्रवृत्त होनेका विचार न करना चाहिये। अपिच जो महाशय इस गुरुतर कार्य्यका भार लेना चाहें उनको पूर्वोक्त विषयोंमें पूर्णज्ञानलाभ हो अथवा न हो परन्तु पूर्वकथित विषयोंको यथासम्भव व यथाशक्ति जान लेनेका यत्न करना तो अवश्य कर्तव्य है।

अर्वाचीन पौराणिक हरिकथक उपदेशक आदिकी जो उपदेश देनेकी शैली है वह प्राचीन धर्म्माचार्य्यशैलीकी ही सहायक है। गुरु और आचार्य्य इन दोनों अधिकारोंका भेद स्वतंत्र स्वतंत्र लक्षणों द्वारा प्रकट हो चुका है। सुतरां आचार्य्योंमें जिन जिन लक्षणोंका होना उचित है धर्म्मोपदेशकोंको उन २ योग्यताओं पर सदा दृष्टि रखना उचित है। वेद और वेदसम्मत सब शास्त्रों का रहस्य समझना, वर्तमान देशकालोपयोगी ज्ञानमें कुशल होना, शास्त्रोक्त त्रिगुण और त्रिभावोंका रहस्य समझना, सप्तज्ञानभूमिके अनुसार दार्शनिक विज्ञानका रहस्य समझना, पुराणादि शास्त्रोंकी त्रिविध भाषाका रहस्य समझना, धर्म्म और धर्म्मके यावत् अङ्ग और

उपाङ्गोंका रहस्य समझना इत्यादि गुण आचार्य्यमें अवश्य होने चाहियें । सुतरां धर्म्मोपदेशकोंमें पूर्ण रीतिसे यह सब योग्यता हो अथवा न हो परन्तु उनको अवश्य ही उक्त योग्यताओंकी ओर लक्ष्य रखना और अपनी योग्यताके अनुसार उन सबका यथासम्भव ज्ञानलाभ करना कर्तव्य है। संन्यासाश्रमधारी महात्मा और साम्प्रदायिक आचार्य्य कोटिके महज्जनोंको व्यासासन पर बैठ कर स्वमर्य्यादारक्षापूर्व्वक गाम्भीर्य्यके साथ धर्म्मोपदेश देना उचित है । और अन्यान्य धर्म्म-वक्ता यथादेशकाल खड़े होकर व्याख्यान देकर लोकोपकारमें प्रवृत्त रहें। गुरुदेवका उपदेश वेदोंकी नांई प्रभुसम्मित है । संन्यासी और स्वसम्प्रदाय के आचार्य्योंका उपदेश पुराणादि शास्त्रोंकी नांई मित्रसम्मित है और अन्यान्य धर्म्मवक्ताओंका उपदेश कथादि शास्त्रोंकी नांई कान्तासम्मित है।

धर्म्मका स्वरूप विस्तारपूर्वक पहिले ही वर्णित होचुका है। धर्म्मके अङ्ग और उपाङ्गोंका साधारण रहस्य सब प्रकारके धर्म्मवक्ताओंको परिज्ञात रहना उचित है। धर्म्मके प्रधानतः तीन अङ्ग हैं । यथा–दान तप और यज्ञ * । यज्ञके

* यज्ञो दानं तपः कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
इति गीतोपनिषद् ।

साधारणतः तीन अङ्ग हैं । यथा-कर्म्मयज्ञ, उपासनायज्ञ और ज्ञानयज्ञ। इसी कारण वेद त्रिकाण्डमें विभक्त है। यज्ञधर्म्म सबसे प्रथम और व्यापक है।कर्म्मयज्ञ प्रथमतः नित्य नैमित्तिक काम्य और द्वितीयतः अध्यात्म अधिदैव और अधिभूतरूपमें विभक्त है। उपासनायज्ञ मन्त्र हठ लय राज इन चारों योगोंके अनुसार चतुर्विध विज्ञानयुक्त है। पुनः सगुण निर्गुणरूपसे बहु प्रकार है जिनकी साधारण संख्या ये हैं। यथा:- ब्रह्मोपासना, सगुण अर्थात् पञ्चोपासना, लीला-विग्रह अर्थात् अवतारोपासना, ऋषि देवता पितृ उपासना और क्षुद्रदेवता और भूतप्रेतादिकी उपासना। और ज्ञानयज्ञ श्रवण मनन निदिध्या-सन भेदसे त्रिभेदात्मक है। तीनों यज्ञोंके ये साधारण भेद कहे गये, इनके असाधारण भेद और भी बहुत हैं और त्रिगुणभेदसे प्रत्येक यज्ञ त्रिभेदात्मक है। तपधर्म्म कायिक वाचिक और मानसिक भेदसे त्रिभावात्मक है और वे तीनों पुनः त्रिगुणभेदसे त्रिभेदात्मक हैं । दानधर्म अर्थदान विद्यादान और अभयदान रूपसे त्रिभा-वात्मक है। भूमि धन कन्या रत्न अन्न वस्त्र आदि का दान ये सब अर्थदानके अन्तर्गत समझनेयोग्य

हैं। सब प्रकारके दानधर्म्म तीन गुणोंके अनुसार त्रिभेदात्मक हैं। पुरुषधर्म्म और नारीधर्म्मका रहस्य निर्णय करते समय यही विज्ञानसिद्ध होगा कि पुरुषधर्म्म तो यज्ञप्रधान और नारीधर्म्म तपःप्रधान है। यज्ञ और महायज्ञके विषयमें अति गूढ विज्ञान कुछ और ही है * व्यक्तिगत सब धर्म्माङ्गोंको यज्ञ कहते हैं। और समष्टिजीवोंके कल्याणार्थ जो धर्म्मसाधन किया जाता है उसको महायज्ञ कहते हैं। ऊपर लिखित वर्णनसे धर्म्माङ्गोंका कुछ रहस्य प्रकट हो सकेगा। इन प्रत्येक धर्म्मांके सहायक जो साधन हैं वे ही धर्म्मके उपाङ्ग कहाते हैं। इस प्रकार से धर्म्मलक्षण उसके अङ्ग और उपाङ्गोंका रहस्य समझकर धर्म्मवक्ताओंको धर्म्मके पुनरभ्युदय करनेमें यत्न करना उचित है† । उक्त सब धर्म्माङ्ग और उपाङ्गों को यथाक्रम

* ग्रन्थकारप्रणीत पञ्चमहायज्ञके विज्ञानसम्बन्धीय और क्रियासिद्धांशसम्बन्धीय दो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनमें द्रष्टव्य है।

† ग्रन्थकारप्रणीत धर्म्मसोपान और श्रीश्रीमधुसूदनसंहिता आदि ग्रन्थोंको पढ़नेसे सनातन धर्म्म और उसके अङ्ग व उपाङ्गोंका बहुत सा रहस्य विदित हो सकेगा।

समझ लेने पर यह प्रकट हो जायगा कि सनातन धर्म्मकी परम्पराय ज्योतिकी सहायतासे ही पृथ्वी भरके सब धर्म्मसम्प्रदाय धर्म्मपन्थ और धर्म्ममत प्रकाशित हैं और यह भी स्पष्ट हो जायगा कि सनातनधर्म्मके अङ्ग और उपाङ्गोंकी छायासे ही अन्य सबके धर्म्मसाधन निर्णीत हुए हैं।

किसी नवीन जातिको उन्नत करनेके लिये विशेष विचारकी आवश्यकता नहीं रहती परन्तु ऐसी अनादिसिद्ध आर्य्य जाति कि जिसके साथ एक अति प्राचीन संस्कार लगा हुआ है उसके पुनरभ्युदय करनेके लिये बहुत कुछ विचारकी आवश्यकता है। प्रथम तो उस जातिको यह समझाना उचित है कि तुम क्या थे और क्या हो गये, तुम कैसे जगत्पूज्य थे, तुम्हारे पूर्वजोंने किस प्रकारसे सब प्रकारकी ज्ञानज्योतियोंका विकाश किया था,* प्राचीन कालमें तुम्हारी

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व्वमानवाः ॥
श्रीभगवान् मनुः ।

महिमा कैसी जगद्व्याप्त थी, जब तक पूज्य-चरण महर्षियोंका आविर्भाव इस पवित्र भूमि में बना रहा तब तक तुम किस प्रकारसे ऐक्य सुख सम्पत्ति शान्ति और अभ्युदयके अधिकारी बने थे और पूज्यचरणोंके तिरोभावके अनन्तर ही बौद्धविप्लव यवनविप्लव आदिके द्वारा तुम कैसे हीनबल हो गये हो, अब भी अपनी ओर निहारो और देखो कि तुम सिंह हो, मेष नहीं हो। इस प्रकारसे इस जातिका पूर्वमहत्व स्मरण करा कर इस जातिका अवसाद दूर करनेके लिये यत्न करना उचित है। किस प्रकारसे यह जगद्गुरु जाति जगत्के बीच दास जाति बन गई। जिस भारतमें यावत् ज्ञानज्योतियोंका विकाश हुआ था वही भारत आज अज्ञानका घर कैसे बनगया। यह सब इतिवृत्ततत्व इस जातिको समझा कर इस जातिकी जरारूपी घोर निद्रा भङ्ग करनेमें धर्मवक्ताओंको सदा यत्न करना उचितहै।

आर्य्य पुरुषोंके धर्म्मोंकी मूलभित्ति वर्णाश्रम धर्म्म है और आर्य्यनारियोंके धर्म्मोंकी मूलभित्ति एक पतिव्रतरूपी सतीत्व धर्म्म है। पृथिवी भरके और सब धर्म्ममतोंमें इन दोनों गुणोंका अभाव है। सनातनधर्म्मकी यही असाधारण विभूतियां

हैं । सुतरां धर्म्मवक्ताओंको सबसे पहले इन दोनों विषयों पर स्थिर लक्ष्य रख कर उपदेश कार्य्यमें प्रवृत्त होना उचित है । जब तक आर्य्य-जातिमें इन दोनों संस्कारोंकी दृढ़ता बनी है तभी तक आर्य्य जातिका जातिगत जीवन बना रहेगा । आर्यजातिको सदा सावधान करते रहना चाहिये कि उनमेंसे आर्य्यसदाचारोंका लोप न होने पावे । उनमेंसे वर्णधर्म्म आश्रमधर्म्म और सतीत्वधर्म्मका दृढ़ संस्कार किसी प्रकारसे शिथिल न होने पावे । उनमेंसे ब्रह्मतेज और क्षात्रतेजका लोप न होने पावे, उनमेंसे ब्रह्मतेजनिर्गमरूपी योगमृत्यु और क्षात्रतेजनिर्गमरूपी युद्धमृत्यु, इन दोनों कीर्तिकर और परम अभ्युदय निःश्रेयस कर मृत्युसंस्कारका लोप न होने पावे । उनमेंसे जगत्पवित्रकर निष्काम व्रतका दृढ संस्कार लोप न होने पावे । उनमेंसे सर्वजीवहितकारिता और सर्व धर्म्मावलम्बियों पर अनुकम्पारूपी उदार भावका लोप न होने पावे और उनमेंसे विषयवैराग्य तथा सब देश काल पात्रोंमें आत्मदृष्टिका लोप न होने पावे ।

जब कोई मनुष्यजाति अधःपतित होने लगती है तब उसमें दोषदृष्टि बढ़ जाती है और जब कोई जाति उन्नत होने लगती है तब उसमें

गुणग्राहिणी शक्ति बढ़ जाती है। जब कोई मनुष्यजाति अवनत होने लगती है तब उसमें स्वार्थपरता बढ़ जाती है और जब कोई जाति उन्नतिकी ओर अग्रसर होने लगती है तब उसमें निष्कामव्रतकी प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। जब कोई जाति अधोगामिनी होने लगती है तब उसमें शिल्पनैपुण्य और कलाकौशलरूपी आधिभौतिक उन्नतिका लोप होने लगता है और जब कोई जाति उन्नत होने लगती है तब उस जातिमें बुद्धिके उन्नतिकारकलक्षणरूपी कलाकौशल शिल्प और पदार्थविद्या आदिकी क्रमोन्नति दिखाई पड़ती है। जब कोई मनुष्य जाति पतित दशामें निमग्न होने लगती है तब उसमेंसे अन्तर्जगत्के उन्नतिके लक्षणभूत धर्म्मप्रवृत्ति और प्रतिभाकी उन्नतिरूप दार्शनिकज्ञानका अनादर होने लगता है और जब कोई जाति उन्नतिकी पराकाष्ठाकी ओर अग्रसर होती है तभी उसमें धर्म्मप्रवृत्ति और दार्शनिकज्ञानकी श्रीवृद्धि होने लगती है। जब किसी मनुष्यसमाजकी अवनति होने लगती है तभी उसमें नियमबद्धता (Discipline) और अनुशासनव्यवस्था (Organisation) का अभाव होजाता है और जब कोई मनुष्यसमाज उन्नतिकी

ओर अग्रसर होता है तब उसमें सब विषयोंके साथ नियमबद्धता और अनुशासनव्यवस्थाके सम्बन्ध दिखाई देने लगते हैं । सब प्रकारके धर्मवक्ताओं और उपदेशकोंको मनुष्यजातिगत उक्त अवनतिकारी और उन्नतिकारी लक्षणोंपर स्थिर लक्ष्य रखकर उपदेशकार्य्यमें प्रवृत्त होना उचित है और सर्वदा यही यत्न करना उचित है कि जिससे अपनी जातिसे अवनतिकारक लक्षण दूर हों और उन्नतिकारक लक्षण प्रकाशित होने लगें ।

विद्या ज्ञानजननी है। जिससे अविद्या दूर हो उसे विद्या कहते हैं। केवल कलाकौशल और पदार्थ-विद्याके सीखनेसे विद्या नहीं आती । केवल व्याख्यान देनेयोग्य वाक्चातुर्यके आजानेसे विद्या नहीं आती । केवल धनसंग्रह करनेकी बुद्धि आजानेसे विद्या नहीं आती । केवल बुद्धिकौशल अथवा युद्ध-कौशल द्वारा देशदेशान्तर जय करनेसे विद्या नहीं आती। केवल व्याकरण और काव्यशास्त्रमें पाण्डित्य लाभ करनेसे विद्या नहीं आती । केवल दार्शनिक युक्तियोंमें कुशल बनकर दम्भयुक्त होते हुए सभा जय करनेकी शक्ति होनेसे विद्या नहीं आती । केवल संस्कृत प्राकृत अथवा लौकिक भाषाओंमें योग्यता प्राप्त करनेसे विद्या नहीं आती । केवल

राजसिकशिक्षाप्राप्तिके द्वारा बड़े बड़े राज्यपदों को प्राप्त कर लेनेसे विद्या नहीं आती । ये सब विषय प्रकारान्तरसे शिल्प और कलाही कहे जा सक्ते हैं । विद्याका लक्षण कुछ और ही है । जो विद्या मनुष्यको बहिर्जगत्से अन्तर्जगत्में ले जावे, जो विद्या मनुष्यको धार्म्मिक बनावे, जो विद्या मनुष्यको विषयप्रेम भुलाकर भगवत्साक्षात्कार करानेमें प्रवृत्त करावे, जो विद्या मनुष्यमें सत्त्वगुण की वृद्धि कर उसमें आत्मज्ञानका विकाश करावे उसीको यथार्थमें विद्या कहते हैं । इन लक्षणों पर लक्ष्य रख कर धर्मवक्ताओंको उपदेश देनेमें प्रवृत्त होना उचित है । शिक्षाप्रणालीके विषयमें यही विचार रहना उचित है कि प्रजामात्रमें सार्व्वजनिक शिक्षा फैलाई जाय । बालकपनमें पुरुषगण ब्रह्मचर्य्यव्रतपालन करते हुए देशकालके ज्ञाता धार्म्मिक, चरित्रवान्, कार्य्यकुशल, स्वदेश-प्रेमी, वर्णाश्रमधर्म्मके पक्षपाती और निष्कामव्रत-परायण होसकें, ऐसी शिक्षा पुरुषोंमें प्रवृत्त होना उचित है । नारीधर्म्म केवल तपःप्रधान धर्म्म है इस कारण स्त्रियोंमें केवल ऐसी ही शिक्षाकी प्रवृत्ति होनी चाहिये कि जिससे बालिकापनसेही उनमें सतीत्वधर्म्मका संस्कार दृढ़ होजाय और वे

अपने शरीरको पूर्णरीतिसे पवित्र रख कर अच्छी गृहिणी और अच्छी माता होसकें। इन सूत्रभूत विषयों पर उपदेशकमात्रका लक्ष्य रहना उचित है।

पृथ्वीके सब धर्म्ममार्ग सनातनधर्म्मके बाल बच्चेही हैं। जिस प्रकार बहुपुत्रवान् भाग्यशाली पिताके बालक युवा अज्ञानी ज्ञानी मूर्ख पण्डित सब प्रकारके ही पुत्र होते हैं, जिस प्रकार बहु पुत्रवान् पिता अपने सत्पुत्रोंको यथायोग्य अधिकार देने पर भी सबको पितृस्नेह द्वारा एकरूपसे ही देखते हैं उसी प्रकार समदर्शी, सर्व्वभाग्यसम्पन्न, सर्व्वशक्तिमान्, सर्व्वव्यापक सनातनधर्म्म पृथिवी भरके सब धर्म्मों पर कृपा करता आया है। तथापि जिस प्रकार कुलरीति-त्यागके कारण किसी किसी पुत्रको सामाजिक दण्ड देना पड़ता है उसी प्रकार बौद्ध आदि धर्म्मोंको सनातनधर्म्मने कभी कभी शासन किया है। ईश्वरभक्ति अर्थात् आस्तिकता, आचार अर्थात् बहिःशुद्धि-यह सनातन धर्म्मकी कुल रीति है। जिन धर्म्ममार्गोंमें इन दोनों लक्षणोंका अथवा किसी एकका अभाव हो वेही धर्म्ममार्ग कुलत्यागी समझे जाकर

अवैदिक माने गये हैं। सनातनधर्म्मके अनुसार जैसे दो कुलरीतियाँ हैं वैसेही दो कुलमर्य्यादा भी हैं। यथा–पुरुषोंमें वर्णाश्रम धर्म्म और नारियों में सतीत्व धर्म्म। जिन धर्म्ममतोंमें ये दोनों विषय न हों उनको सनातनधर्म्म कुलमर्य्यादा-त्यागी समझ कर अनार्य्यमत समझता है। कुल मर्य्यादा और कुलरीतिके रहस्य पर सदा लक्ष्य रख कर सनातनधर्म्मवक्ताओंको कदापि अनुदार नहीं होना उचित है। स्वमतमण्डनके द्वारा स्वतः ही परमतका खण्डन हो जाता है। परमत-खण्डनकी प्रवृत्तिसे स्वमतमण्डनकी प्रवृत्ति पुण्य-जनक है। ज्ञान और विज्ञानकी उन्नति जैसे अन्य दार्शनिकभित्तिरहित धर्म्ममतोंके भयभीत होनेका कारण है, अभ्रान्त दार्शनिक विज्ञान पर स्थित सनातन धर्म्मको उक्त प्रकारसे किसी प्रकारके भी ज्ञान विज्ञानकी उन्नतिसे भयभीत होनेकी कुछ संभावना नहीं है। संसारमें जितनी ज्ञान और विज्ञानकी उन्नति होगी साधारण मनुष्य समाज उतना ही सनातन धर्म्मका पक्षपाती होता जायगा। ये सब तत्त्व उपदेशकमात्रको हृदयङ्गम करना उचित है।

वर्णाश्रमनियम, राजदण्डनियम, समाज-

दण्डनियम, आचार्य्यानुशासन नियम आदि लौकिक और पारलौकिक अभ्युदयकर नियमविधियोंको यथारीति माननेसे मनुष्यसमाजकी क्रमोन्नति होती है। मनुष्यकी सब प्रकारकी उन्नति का मूलमन्त्र नियमपालन है। इसीको नियम बद्धप्रणाली अर्थात् (Discipline) कहते हैं। यह निमयबद्धताका ही कारण है कि सृष्टि स्थिति लय का कार्य्य विना किसी अवरोधके यथाक्रम चल रहा है। नियम बद्धताकाही कारण है कि आद्यन्तरहित आकाशमें अनन्त सूर्य्य नक्षत्र राशिग्रह उपग्रह धूमकेतु आदि जीवलोकसङ्घ विचरण कर रहे हैं परन्तु एक दूसरेसे टकराकर सृष्टिक्रियाको भ्रष्ट नहीं करते। जो जाति नियमपालन करना जानती है, जिस जातिके मनुष्य कुल नियम, समाजनियम, राजनियम और वेदनियमका यथावत् ठीक ठीक पालन करते हैं वही मनुष्य जाति अवनतिसे बच कर उन्नतिकी ओर अग्रसर होसक्ती है। जिस प्रकार नियमबद्धता क्रमोन्नति का मूलमंत्र है उसी प्रकार अनुशासनव्यवस्था अर्थात् (Organisation) सब प्रकारकी शक्ति लाभ करनेका प्रधान उपाय है। विना शक्तिके कोई कार्य्य नहीं होसक्ता। समाजशक्ति, राजशक्ति,

अर्थशक्ति, लोकशक्ति, धर्म्मशक्ति आदि सब शक्तियाँ अनुशासनव्यवस्थाके द्वारा ही प्राप्त होती हैं। किसी जातिको जातिगत उन्नति और अवनति उस जातिकी अनुशासनव्यवस्थाके तारातम्यसे ही हुआ करती है। आर्य्यजातिमें इस समय अनुशासनव्यवस्थाको न्यूनता हो जानेसे ही इस जातिकी अवनति हो रही है *। एक परमाणुसे लेकर विराट् ब्रह्माण्ड पर्य्यन्त उत्तरोत्तर एक पदार्थ दूसरेके द्वारा समाकर्षित होकर सहायताको प्राप्त होता है और इस ब्रह्माण्डका कोई अंश नष्ट भ्रष्ट अथवा उपेक्षित नहीं होता, इसीको प्राकृतिक अनुशासन कहते हैं। इसी दृष्टान्त पर सब दार्ष्टान्त समझना उचित है। समाजमें जब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुरुष, स्त्री, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, राजा, प्रजा, एक दूसरेको यथाक्रम सँभालते रहेंगे तभी लौकिक अनुशासनव्यवस्था-

* ग्रन्थकारप्रणीत श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलरहस्य नामक पुस्तक द्रष्टव्य है। उसमें यह वैज्ञानिक विचार द्वारा दिखलाया गया है कि आर्य्यजातिकी वर्तमान दशा कैसी है और अब किस प्रकारकी अनुशासनव्यवस्था होनी चाहिये।

किसी अवस्थामें क्षणमात्र भी कोई विना कर्म्म किये नहीं रह सक्ता; प्राकृतिक गुण सबको ही विवश करके कर्म्म कराते हैं *। तुम नित्यकर्म्म करो, क्योंकि कर्म्म न करनेकी अपेक्षा कर्म्म करना अच्छा है; सर्व्वकर्म्मशून्य होने पर तुम्हारी देहयात्रा भी निर्व्वाहित नहीं होगी। जनकादि महात्मा कर्म्म द्वाराही संसिद्धि (ज्ञान) को प्राप्त हुए हैं; सब लोगोंको धर्म्ममें प्रवृत्त करनेकी ओर दृष्टि रख कर भी कर्म्म करना उचित है। श्रेष्ठ व्यक्ति जो जो करते हैं, अन्यान्य लोग भी वही २ करते हैं; वे जिसको प्रमाण मानते हैं, लोग भी उसीका अनुवर्तन करते हैं। हे भारत! कर्म्ममें आसक्त अज्ञ व्यक्ति जिस प्रकार कर्म्म करते हैं, कर्ममें अनासक्त ज्ञानी लोग भी लोगोंको अपने अपने धर्म्ममें प्रवृत्त करनेके अर्थ उसी प्रकार कर्म्म करें। जिसके सब कर्मफल कामनाशून्य हैं,

---

* योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत् ।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

बुद्धिमान् लोग उसीको पण्डित कहते हैं, क्योंकि ऐसे कर्म्मानुष्ठान द्वारा उत्पन्न ज्ञानरूप अग्निसे उसके सब कर्म्म भस्म हो जाते हैं। वह सकामकर्म और उसके फलमें आसक्ति त्याग करके नित्यानन्दसे परितृप्त रहता है सुतरां अप्राप्त विषयके वास्ते चेष्टा व प्राप्त विषयके परिरक्षणमें निरपेक्ष होकर कर्म्ममें प्रवृत्त होने पर भी कुछ भी नहीं करता है अर्थात् उसके सब कर्म्म अकर्म्मताको प्राप्त होते हैं। पण्डित लोग काम्य कर्म्मोंके त्यागको संन्यास कहते हैं, और कोई विचक्षणगण सब प्रकारके कर्म्मफलके त्यागको त्याग कहते हैं। कोई मनीषी सदोष कर्म्मको त्याज्य कहते हैं और दूसरे यज्ञ दान और तपको अत्याज्य कहते हैं। हे पार्थ ! आसक्ति और फलकामना त्याग करके ये सब कर्म्म करने आवश्यक हैं, यह मेरा निश्चित मत जानना *। नित्य कर्म्मका त्याग उचित नहीं है;

* नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः ॥
कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवाऽपि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

मोहवश हो नित्यकर्म्मका त्याग किया जाय तो वह तामस त्याग कहलाता है। जो व्यक्ति दुःख समझ कर शारीरिक क्लेशके भयसे कर्म्म त्याग करता है वह राजस त्याग करता है इसलिये वह कभी त्यागके फलको नहीं प्राप्त होता है। हे अर्जुन! आसक्ति और फल त्याग करके कर्तव्य बुद्धिसे जो नित्य कर्म्म (अवश्यकर्तव्यरूपसे विहित) किया जाता है उस कर्म्मत्यागको सात्त्विक त्याग कहा जाता है। कर्म्मत्याग और कर्म्मयोग (निष्काम कर्म्म करना) दोनों ही

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
सक्ताः कर्म्मण्यविद्वांसो यथा कुर्व्वन्ति भारत।
कुर्य्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
यस्य सर्व्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तेऽपि नैव किञ्चित् करोति सः॥
काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्व्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म्म न त्याज्यमिति चाऽपरे॥
एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

मोक्षप्रद हैं, किन्तु इन दोनोंमेंसे कर्म्मत्यागकी अपेक्षा कर्म्मयोग उत्कृष्टतर है । परमेश्वरको समर्पण करके और फलमें आसक्ति त्याग करके जो कर्म्म करता है वह जिस प्रकार जलमें रहकर भी पद्मपत्र जलमें लिप्त नहीं होता उसी प्रकार कर्म्मोंमें लिप्त नहीं होता । विधिवाक्यों द्वारा कहे हुए कर्म्म ब्रह्मवेत्ताओंको भी नित्य करने चाहिये । योगसाधनके समय उन कर्म्मोंको "दुःख होता है" केवल इस बुद्धिसे ही नहीं छोड़ना चाहिये । भूत-भविष्यत्का ज्ञाता और त्रिलोकीके उद्धार करनेमें समर्थ व्यक्ति भी श्रौत और स्मार्त आचारका परित्याग न करे । जो व्यक्ति कर्मोंका त्याग करता है वह नरकगामी होता है इसलिये मनुष्य सम्पूर्णरूपसे कर्म्म त्याग नहीं कर सक्ता । हे अर्जुन ! कर्म्म करनेमेंही तेरा अधिकार है, कर्मफलकी इच्छा करनेमें तेरा अधिकार नहीं है, जिन लोगोंकी कर्म्ममें प्रवृत्तिका हेतु कर्म्मफल है उन लोगोंके समान अर्थात् फलार्थी तू मत हो और ऐसा कर कि कर्म्म न करनेमें भी

तेरो प्रवृत्ति न हो * ।

इति तृतीयोऽध्यायः ।

---

* नियतस्य तु संन्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्यपरित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥
दुःखमित्येवयत्कर्म्मकायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥
कार्य्यमित्येव यत्कर्म्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलञ्चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥
संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥
ब्रह्मण्याधायकर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
विध्युक्तं कर्म्म कर्तव्यं ब्रह्मनिष्ठैश्च नित्यशः ।
प्रयोगकाले योगानां दुःखमित्येव न त्यजेत् ॥
अतीतानागतज्ञानी त्रैलोक्योद्धरणक्षमः ॥
एतादृशोऽपि नाचारं श्रौतं स्मार्तं परित्यजेत् ॥
कर्म्मणां यस्य निलयो निरयस्तस्य कीर्त्तितः ।
न देहिना ततः शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः ॥
कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥

चतुर्थ अध्याय ।

प्रार्थना * ।

छप्पै ।

मङ्गलमय, मुदमूल, मोह-माया-मद मर्दन ।
लीलाहित बहुरूप, हरत जनके दुख दर्दन ।
मुनिमनमानसहंस, निरन्तर अन्तर्यामी ।
एकमात्र अनुरागपात्र, सचराचरस्वामी ॥
सो अचिन्त्य, अवितर्क्य, अज,
आदि, अकिञ्चनजन-अयन ।
जय २ अकुतोभय अवधि,
ब्रह्म सच्चिदानन्द घन ॥

पज्झटिका छन्द ।

हे ब्रह्म ! सच्चिदानन्दकन्द !
हे हृदयनाथ ! निर्गुण ! स्व-छंद ! ॥
हममें तुममें, यद्यपि अभेद ।
हैं वर्णित, दर्शन शास्त्र वेद ॥

---

* संस्कृत स्तोत्र जो उपदेशपारिजातमें प्रकाशित हुआ है और जो संस्कृत श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्यमें दिया गया है उन दोनोंके आधार पर रचित ।

हैं, तदपि तुम्हारो अंश, नाथ ! ।
अपने अनुभवसे ही सनाथ ॥
हे जगदात्मन् ! जैसे तरंग ।
है होत जलधि ही केर अंग ॥
हे जगद्गुरो ! करुणानिधान ! ।
हैं जीव अल्पदर्शी अजान ॥
हैं आप सर्वदर्शी सुजान ।
शिव, पूर्ण, ज्ञानमय, निरभिमान ॥
मम क्षुद्र बुद्धिको, कृपासिन्धु ! ।
करि प्रेरित, दीनानाथबन्धु !
जो ज्ञान वास्तविक स्व-प्रकाश ।
ताको करिये हियमें प्रकाश ॥
हे सर्वनारिनरवृन्दरूप ! ।
हे विश्वमूर्ति, अक्षय, अनूप ! ॥
हे विराट्पुरुष ! ये प्राणिमात्र ।
हैं देव ! तुम्हारे कृपापात्र ॥
अब करो कृपा, सब उठैं जागि ।
ये अंश तुम्हारे विपथ त्यागि ॥
तव आत्मरूपको परमप्रेष्ठ ।
आनन्द करत अनुभव यथेष्ठ ॥
तव मिलनमार्गमें भक्ति साथ ।

सब समय अग्रसर रहैं, नाथ ! ॥
निजशक्ति महादेवी-समेत ! ।
हे महादेव ! मायानिकेत ! ॥
यह सकल विश्व ब्रह्माण्ड जोय ।
सो तुमसे ही उत्पन्न होय ॥
पुनि कालग्रस्त है सो समस्त ।
ह्वै जाय आपमें लीन अस्त ॥
तुमही जगके हो पिता-मात ।
हे लोकपितामह ! स्वयंजात ॥
जब महा प्रलयको होत अन्त ।
तब तुमहिं रजोमय ह्वै, अनन्त ! ॥
यह बहुविचित्रतापूर्ण सृष्टि ।
हो देव ! करत, करि दया-दृष्टि ॥
हे विष्णु ! सनातनधर्मयूप ! ।
तुम सदा सत्त्वगुणमयस्वरूप ॥
जो अघटनघटना-पटु महान ।
यह सृष्टि सकल लीलाविधान ॥
ताकी रक्षा हो करत, देव ! ।
ऐ महारुद्र ! तुम एवमेव ॥
जब प्रलय समय आवै, अनूप ! ।
तब धारि तमोगुणमय स्वरूप ॥

यहि बहुविचित्र शोभाविकाश ।
स्रष्टृप्रवाहको करत नाश ॥
हैं जीवोंके जो तीन ताप ।
तिनको हरते हैं नाथ ! आप ॥
इन जीवनके जो हृदय बीच ।
है अविनयकी जम गई कीच ॥
त्यहि धोय बहाओ बेगि नाथ ! ।
मन दमन-शक्ति दै भक्ति साथ ॥
इनके अन्तरको शुचि बनाय ।
प्रभु ! असत्-वासनासे फिराय ॥
सत्-अनुगामी करि देहु बेगि ।
द्वेषादिभाव हरि लेहु बेगि ॥
अब जासों ये भजि भ्रातृभाव ।
सब मेटैं मिलि अपनो अभाव ॥
तुम्हरी महिमा जो है अपार ।
त्यहि गावैं प्रमुदित बार बार ॥
हे जगत्पिता ! ये शान्त श्रेष्ठ ।
हैं पुत्र तुम्हारे सर्वज्येष्ठ ॥
इन ओर कीजिये, सुखनिदान ।
निज कृपादृष्टि करुणानिधान ! ॥

चौपाई।

आर्यजाति यह यद्यपि यहि छन।
अपने ही कर्मनके दोषन॥
अधःपतित ह्वै गई कृपानिधि!।
तदपि तुम्हारी ही है सब विधि॥
'पतितपुरुषपावन' जग जाना।
नाम तुम्हारो वेदबखाना॥
ह्यहि सार्थक करिबेको प्रभु! अब।
ह्वै है कौन सुयोग अहो कब?॥
धर्मराज, हे धर्मविधायक।
आर्यजाति, जो थी सब लायक॥
जगद्‌गुरू जो एक समय थी।
विश्वविजयिनी, अपगतभय थी॥
वही जाति प्रभु! आज विमोहित।
है प्रमाद-निद्रामें निद्रित॥
आज जगतके निकट भिखारी।
आलस-बस, जैसे मति मारी॥

दोहा।

कृपासिन्धु! यासों अधिक और दण्ड नहिं कोय।
जो अजहूँ इनके असत्‌-भोग निवृत्ति न होय!॥
हे जगदीश! स्वभावगत अहंकारके जोर।
स्वाभाविक गति जीवकी होत असत्‌की ओर॥

चौपाई ।

किन्तु पतितपावन, प्रभु, प्यारे ! ।
अब इन काहिं उबारनहारे ॥
एक आपही हैं पुरुषोत्तम ! ।
स्मरण करावैं यहि कारण हम ॥
ज्ञानमूर्ति ! ज्ञानात्मक ! सत्वर ।
कृपाकटाक्ष करो इन ऊपर ॥
मोह-नींद सोये जो ये सब ।
आर्यनके वंशज, तिनके अब ॥
अन्धकारपरिपूर्ण हृदय महँ ।
करो प्रकाशित ज्ञानज्योति कहँ ॥
एकरूप सब प्राणिन माहीं ।
निर्विकार, भ्रम जामें नाहीं ॥
सार्वभौम-शुभदृष्टि-मनोहर ।
आध्यात्मिक उन्नतिकारी, वर ॥
ऐसो सात्विक ज्ञान, अहो हरि ! ।
आर्यप्रजा पावै उन्नति करि ॥

दोहा ।

भक्त-मनोमन्दिर-निलय ! हृषीकेश, भगवान ! ।
हैं चिरभक्त तुम्हार, ये सकल आर्यसन्तान ॥
हृदयद्वारके खोलि पट, इनके जगदाधार ! ।
सुन्दर मूर्ति दिखाइये, अपनी परम उदार ॥

जासों ये सब आर्यगण तुम्हैं न भूलैं नेक।
इन्द्रियलोलुप, स्वार्थपर, रहै न इनमें एक॥
यज्ञेश्वर! ये आर्यगण भजि आलस्य, प्रमाद।
तव महिमा भूले, भये दुःखित सहित विषाद॥

चौपाई।

किन्तु अहो जगजीवन, चिन्मय!।
इनके पूर्वज सबै सदाशय॥
परमभक्त थे, देव! तुम्हारे।
करो अनुग्रह यासों प्यारे!॥
अति पवित्र यह भारतधरनी।
कर्मभूमि शास्त्रनमें वरनी॥
ऐसी कृपा करो सुखरासी!।
तमोग्रस्त ये भारतवासी॥
जासों ह्वै सचेष्ट सब जागैं॥
दशा देखि, आलसको त्यागैं॥
शक्ति अपार कर्मकी जानैं।
बनैं कर्मयोगी, प्रण ठानैं॥
हे तपरूप! त्रितापनिवारण!।
तव महिमा-विस्मृतिके कारण॥
इन भारतवासिनकी, ईश्वर!।
अति दुर्गति यों भई मही पर॥

दोहा ।

ऐसी करुणा कीजिये, जासों ये लहि ज्ञान ।
द्वन्द्वसहिष्णु, अकाम-व्रत-तत्पर होयँ महान ॥
दानमूर्ति ! यद्यपि अजौं, सकल आर्य सन्तान ।
हैं स्वाभाविक आपके सेवक, हे भगवान ! ॥
किन्तु यथार्थ स्वरूप तव, भूलि रहे हैं नाथ ! ।
याही कारण है रहे दीन, अधीन अनाथ ॥

चौपाई ।

हे कलिकलुषकदन ! अब यासों ।
करो प्रेरणा, ऐसो जासों ॥
सात्त्विकदानमहत्त्व समझ कर ।
ये भारतवासी नारी नर ॥
निज उद्धार करनमें, स्वामी ! ।
होंय समर्थ, सदुन्नतिकामी ॥
तुम ही महाकाल हो न्यारे ।
सृष्टि-स्थिति-लय देखनहारे ॥
तुम ही चारों युगके कर्त्ता ।
सञ्चालक त्रिभुवनके भर्त्ता ॥
कृपा तुम्हारी ही से, निश्चय ।
युग पलटत, कुसमय है सुसमय ॥
'कलि'में 'सत्य', 'सत्य'में 'द्वापर' ।
यों प्रतियुगमें होत युगान्तर ॥

कृपा करो, जगजनक ! जनन पर ।
होय समय यह सात्त्विक सुन्दर ॥
आर्य्यवंशजननी जगजानी ।
भारतमात ! प्रवीन पुरानी ॥
होत कुपूत अनेक दिखाहीं ।
कहूँ कुमाता सुनियत नाहीं ॥
जननि ! आर्यकुलबालक तेरे ।
भये मन्दमति, दुर्गति घेरे ॥
स्नेहसहित हित हेतु कृपा सन ।
यों करिये इन ऊपर शासन ॥
निज कर्तव्य समझि ह्वै सहमत ।
तुम्हरी सेवा करैं सुसंयत ॥

दोहा ।

सत्यरूप, हे सत्यपति ! अग्रज ब्राह्मण लोग ।
कृपा तुम्हारीसे लहैं निःश्रेयस-पद-योग ॥
तुम्हरी ही लहि शक्ति ये, वर्तत जगव्यवहार ।
ह्वै प्रवृत्तिपथके पथिक, तदपि न भूले सार ॥
मोक्षप्रद सत्‌धर्मकी, रहे करत बहु वृद्धि ।
भारतकी जासों रही सब विधि सुखद समृद्धि ॥
जगमंगलकारी अहो भूलि तुम्हारो रूप ।
वे ही स्वामिन् ! अब परे कठिन कुमतिके कूप ॥

चौपाई ।

सोई रूप अनूप दिखाओ । भृत्यनको कृतकृत्य बनाओ ॥
तेजोरूप, नाथ सुखरासी ! । अधःपतित भे भारतवासी ॥
मति मारी इनकी, चित चंचल । नहीं शूरता, नहीं वीर्यबल ॥
तेजविहीन, मलीन मनोरथ । रह्यो नामको नहिं पुरुषारथ ॥
गुण सब गये, न नय है नेरे । रहत सब समय आलस घेरे ॥
जासों होत प्राणमनसंयम । इन्द्रियदमन शक्तिसंयुत शम ॥
धैर्यशक्ति, जो प्रण रखि आगे । डिगै न, कालहुको लखि आगे ॥
यहि प्रकार इनके उर अन्तर । क्षात्र तेज उपजाओ हरबर ॥

दोहा ।

विष्णुप्रिये ! कमलालये ! महालक्ष्मि ! हेमात !
तव अकृपाहीसे दुखित आर्यजाति बिललात ॥
कृपाकटाक्ष न पाय अब, धर्मप्राण यह जाति ।
ओहत, निर्बल, धान्यधनवञ्चित, हाय ! दिखाति ॥
स्नेहमयी मैया ! सदा तेरे पदतल चूमि ।
कृपापात्र तेरी रही, चिरसे भारतभूमि ॥

सोरठा ।

कृपादृष्टिसे हेरि, आर्यजातिकी ओर अब ।
याहि बनाओ फेरि, सकलकलाकौशलनिपुण ॥
उपयोगी यहि काल, वैश्यधर्म 'व्यापार', सो ।
दिन २ होय विशाल, उन्नति करि यहि जाति महँ ॥
फिर यह भारतवर्ष, तुम्हरी लीलाभूमि बनि ।
उन्नति करि प्रतिवर्ष, लहि उत्कर्ष, रहै सुखी ॥

रामगीतिका छन्द।

विश्वकर्मन् ! जौन दिनसे शूद्रकी सन्तान।
छोंड़ि सेवाधर्म, खोयो शिल्प-विद्या-ज्ञान॥
तौन दिनसे होन लाग्यो है पतन यहि केर।
परमुखापेक्षी बनी है, भाग्यही के फेर॥
शिल्पिराज ! त्रितापतापित आर्यगणको ओर।
ऐसी कृपाकी दृष्टि करिये, मेटि कष्ट कठोर॥
जासों सतत करि शिल्प उन्नति, सुमति गुणगति पाय।
हर्षितहृदय ह्वै ये तुम्हारी सकैं महिमा गाय॥
हे धर्ममूर्ति ! सदा सबै जीवन, जगत्में, आप।
अधिकार निज २ पर चलाओ; मेटि पाप, त्रिताप॥
उनके स्वतन्त्र स्वधर्मके अधिकारके अनुसार।
देते रहैं फल, आप उनको, कल्पतरु अनुहार॥
हे सर्वधर्माश्रय विभो ! दीजै सुमति सद्भाव।
इनके हृदयगत मेटिये सङ्कीर्णताको भाव॥
निज सार्वभौम स्वरूप, जो संसारहितकर, सार।
मुनि जाहि राखैं हृदयमें, ज्यों कृपण कोषागार॥
सोइ परम मंगलमय स्वरूप दिखाइये, अपनाय।
फिरसे उदार बनाइये, सिद्धान्त स्वच्छ सुझाय॥
योगेश ! ह्वै तुम योगयुक्त, विचित्ररूप, अथाह।
यहि सृष्टिलीलाको अनन्त रहे बहाय, प्रवाह॥
पुनि योगबलसे आप हीं करि सृष्टिको निजलीन।

संहार ... ंदप्रबाहको है करत, रहि स्वाधीन ॥
जो है सुकौशलपूर्ण कर्म वही कहावत 'योग' ।
योगेश ! ऐसी कृपा करिये, होय शुभ संयोग ॥
तव मुखकमलविगलित,सुधा सम,ज्ञानको भंडार ।
जो उपनिषद् 'गीता' कथित है, कर्मयोग विचार ॥
विज्ञान तत्त्व विकास ताको, आर्यगण हिय बीच ।
होन लागै, हेहरे ! होवैं विचार न नीच ॥
हे प्रभु ! अकुण्ठितशक्ति ! इच्छा आपकी अव्यर्थ ।
धर्मके कार्यार्थ उद्यत, सदा सिद्ध समर्थ ॥
कार्यात्मिका 'वैकुण्ठ' नामक शक्ति तव साक्षात ।
सोई सहायक है भई, दरस्यो सुदिनको प्रात ॥
आज्ञा तुम्हारी हीं भई तब ही, अहो भगवान ! ।
आरंभ होन लग्यो महामखको महानुष्ठान ॥
... ! यहि सत् यज्ञ पै श्रद्धा बढ़ाय महान ।
सम्पूर्ण करि याको; करो संसारको कल्यान ॥
है 'प्रार्थना' बस 'यही, "कमला-कर" सुललितपाद ।
हे परम परमात्मन ! करै भारत न आरतनाद ॥
तुम्हरी कृपाकी प्राप्तिके उद्देश्यसे अविराम ।
कहि मन्त्र "ॐ तत्सत्", करौं पदपद्म माहिं प्रणाम ॥

इति श्री चतुर्थोऽध्यायः ।

श्रीमहामण्डलद्वारा प्रकाशित धर्म्मग्रन्थ ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल द्वारा कई धर्म्मग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनमेंसे कुछ समूल्य ग्रन्थ नीचे लिखे जाते हैं। प्रत्येक स्वदेश हितैषी धार्म्मिक इनको मंगाकर इनसे धर्म्म ज्ञान और आनन्द लाभ कर सका है।

उपदेशपारिजात (यह ग्रन्थ सरल संस्कृतमें है और मुख्यतः धर्म्मोपदेशकोंके हितार्थ बनाया गया है)...मूल्य ।।) आठ आना

श्रीमहामण्डलकी आवश्यकता (यह छोटीसी पुस्तिका अर्थात् ट्रैक्ट है) ... ... मूल्य)।। आधा आना

छात्रधर्म्म (धार्म्मिक छात्रोंको सात्विकज्ञानमें प्रवृत्त करानेके अर्थ) ... ... मूल्य)।। आधा आना

धर्म्म और धर्म्माङ्ग (सनातनधर्म्मके कितने अङ्ग हैं और उपाङ्ग कौन कौन हो सके हैं इसका वर्णन इसमें है)

मूल्य)।। आधा आना

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलरहस्य (इसमें धार्म्मिक इतिहास सनातनधर्म्मके अनेक विषयोंका वर्णन, धर्म्ममूलक अपूर्व समाजसंस्काररीति वर्णन, और महामण्डलकी उपकारिता तथा कार्य्यप्रणाली आदि विषय विलक्षण रीतिसे वर्णन किये गये हैं। यह ग्रन्थ भारतहितैषीमात्रके पढ़ने योग्य है)

मूल्य १) एक रुपया

श्रीमहामण्डलकी बाल्यावस्था (आठवर्षकी रिपोर्ट भविष्यत् कार्य्यप्रणालीके नोटों सहित) ... मूल्य ।) चार आना

मिलनेका पता:—
मैनेजर
श्रीनिगमागम पुस्तकभाण्डार (हु.हि.पो)
मांसका फाटक धर्म्मनिकेतन
(काशी शहर